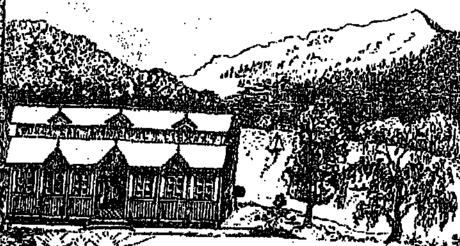


विचित्र प्रबन्ध

स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुर

मूल्य

दो रुपया

प्रकाशक—
चौधरी एण्ड सन्स
नीचीबाग, बनारस

द्वितीय संस्करण—मार्च ५७

मुद्रक:—
आदर्श प्रिंटिंग प्रेस,
पियरीकलाँ, वाराणसी

सरोजिनी-पयान

१

आज है शुक्रवार, जेठ मास की ग्यारहवीं तारीख। अँग्रेजी तारीख है तेईसवीं मई, १८८४ ईसवी। आज शुभ मूहूर्त में स्टीमर 'सरोजनी' अपने साथ दो लौह-निर्मित नौकाएँ दोनों बगल में लेकर अपने कार्यस्थल बारीसाल के लिए रवाना हो जायगी। यात्रियों की संख्या बढ़ चली है। इस यात्रा में हम तीन आदमियों के जाने की बात तय थी। तीनों थे वयस्क पुरुष। प्रातःकाल उठकर, चीज-सामान बाँधकर मैं तैयार हो चुका था। परम परिहासनीय श्रीमती भाभी जी के पास जाकर, म्लानमुख से विदा होने के सभी उद्योग कर रहा था कि उसी समय यह बात सुनाई पड़ी कि वे ससन्तान हमारे साथ यात्रा करेंगी। वे किसी के मुँह से यह खबर सुन चुकी हैं कि जिस रास्ते से हम लोग बारीसाल जा रहे हैं, उस रास्ते से बारीसाल जाने की बात कहकर बहुत से लोग बारीसाल नहीं गये। पीछे कहीं हमलोग भी उसी तरह का धोखा न दें, इस संशय में पड़कर वे बड़ी देर तक अपने दायें हाथ की पाँच छोटी-छोटी, पतली-पतली अगुलियों की नखों की तरफ दृष्टिपात करती हुई बहुत कुछ सोच-विचार करने लगीं। अन्त में ठीक आठ बजे नखाग्र भाग से जितनी विवेचनाओं और युक्तियों का संग्रह करना सम्भव हो सकता है, उन सभी को पूर्ण रूप से संग्रह करके हम लोगों के साथ गाड़ी में आ बैठीं।

प्रातःकाल कलकत्ते के रास्तों का दृश्य विशेष सुन्दर नहीं रहता ऐसी बात नहीं है, विशेषतः चितपुर रोड का। प्रातःकालीन सूर्य-किरणें, किराये पर चलने वाली मामूली गाड़िया के अस्तबलों के माथे पर और काँच के झाड़ बेचने वाले मुसलमानों की दूकानों की एक कतार पर आ पड़ी हैं।

गैस-लैम्पों के ऊपर सूर्य की ज्योति ऐसी चमक रही है कि उस तरफ अच्छी तरह नजर उठाकर देखने का उपाय नहीं है। सारी रात नक्षत्रों से अभिनय करने पर भी उनकी साध नहीं मिटी है, इसीलिए प्रातःकाल लाख योजन की दूरी पर होते हुए भी, वे सूर्य से अतिशय चमकदार महत्व पाने की चेष्टा में हैं। ट्रामगाड़ी सिसकारी भरती हुई चली जा रही हैं, किन्तु अभी यात्रियों का अधिक समागम नहीं हुआ है। म्युनिसिपैलिटी की गाड़ियाँ कलकत्ते का कूड़ा-कतवार लाद कर अत्यन्त धीमी गति से चली जा रही हैं। फुटपाथ के किनारे, कतार की कतार भाड़े पर चलनेवाली गाड़ियाँ आरोहियों की प्रतीक्षा में खड़ी हैं, उनमें जुते हुए अश्वचर्म से ढके हड्डियों के ढाँचे, गरदन झुकाये सूखी घास की आँटियों को अन्यमनस्क भाव से चबा रहे हैं। उनका यह पारमार्थिक भाव देखने से मालूम होता है कि, बहुत सोच विचार करने पर उन लोगों ने अपने सामने पड़ी हुई घास की आँटियों के साथ समग्र संसार की तुलना करके, सारवत्ता और सरसता के सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं देखा है। दक्षिण तरफ मुसलमानों की दूकान में हृतचर्म खस्सी के अङ्ग-प्रत्यङ्ग, कुछ तो रस्सी पर झूल रहे हैं, कुछ खण्ड-खण्ड आकारों में शलाकाओं के सहारे अग्निशिखा के ऊपर चक्कर लगा रहे हैं और बृहत्-काय रक्तवर्ण दाढ़ीवाले लोग, बड़े-बड़े हाथों से बड़ी-बड़ी रोटियाँ सेंक रहे हैं। कबाब की दूकान के पास गुब्बारे तैयार करने का स्थान है, बहुत भोर में ही उनके चूल्हे में आग जला दी गयी है। बाँस का ठट्ठर खोलकर कोई हाथ-मुँह धो रहा है, कोई दूकान के सामने झाड़ू लगा रहा है। कोई लाल कलप लगी दाढ़ी लिए, आँखों पर चश्मा लगाये एक फारसी किताब पढ़ रहा है। एक भिखारी मसजिद की सीढ़ी पर हाथ पसारे खड़ा है।

गंगा के किनारे कोयला घाट पर हमलोग जा पहुँचे। सामने से छाजनदार बँधी हुई नावें, दैत्यों के पैरों की नाप के बड़े-बड़े चप्पलों की तरह दिखाई

पड़ रही हैं। मालूम हो रहा है, जैसे उनमें अकस्मात् प्राण आ गया हो और वे अनुपस्थित चरणों की याद कर चट्‌चट् करके चलने की प्रतीक्षा में अधीर हो पड़ी हैं। एक बार चलने का मौका मिलने से ही काम बन जायगा, इसी तरह का उनका मनोभाव है। एक बार वे उठ रही हैं, मानो ऊपर सिर उठाकर तटवर्ती भूमि की तरफ ध्यान से देख रही हैं—कोई आ रहा है या नहीं—फिर नीचे उतर पड़ती हैं। एक बार आग्रह के साथ जल की तरफ चली जाती हैं, फिर कुछ सोचकर अपने मन को सम्हाल कर तीर की तरफ लौट आती हैं। गाड़ी से उतर कर जमीन पर कदम रखते न रखते ही, झुण्ड के झुण्ड मल्लाह हमारे पास आ धमके। कोई कहने लगा, 'मेरी नाव पर' फिर दूसरा बोल उठा 'मेरी नाव पर'। इस प्रकार मल्लाहों की तरङ्ग में पड़कर हमारे शरीर की नौका एक बार दायीं तरफ, फिर दूसरी बार बायीं तरफ, फिर बीच में भंवर के बीच पड़कर चक्कर काटने लगा। अन्त में अवस्था के झोंक से, पूर्वजन्म के किसी विशेष कर्मफल से, हम एक विशेष नौका में प्रवेश कर गये। पाल चढ़ाकर नाव छोड़ दी गयी। गंगा में आज कुछ अधिक लहरें उठने लगी हैं, हवा भी बहने लगी है। यह ज्वार का समय है। छोटी-छोटी नावें आज पाल उड़ा कर बहुत तेज गति से चल रही हैं। अपने घमंड से आप ही करवट झुक जाने की स्थिति में हो रही हैं। एक बहुत बड़ी स्टीमर अपनी दोनों बगल में दो लौह निर्मित नावें लिये आस-पास की छोटी-पतली नावों के प्रति अपज्ञा दिखाती हुई, लोहे की नाक आकाश में उठाये, गों-गों की आवाज करती हुई, सधूम निःश्वास के साथ, हमारी तरफ दौड़ती आ रही है। ध्यान से देखने से मालूम हुआ कि हमारा ही जहाज है—"ठहरो ठहरो, रुको, रुको!" मांझी ने कहा—"महाशय, डरिये मत, इस तरह बहुत बार जहाज पकड़ चुका हूँ।" कहने की जरूरत नहीं कि इस बार भी उसने पकड़ ही लिया। जहाज के ऊपर से एक सीढ़ी गिरा दी गयी। लड़कों को पहले चढ़ाया गया, उसके बाद मेरी भाभी जी ने

जब बड़े कष्ट से अपने कमलवत् दोनों चरणों को जहाज पर रक्खा, तब हम लोग भी मधुकर की तरह उनके पीछे ऊपर जा पहुँचे।

२

यद्यपि स्रोत और हवा प्रतिकूल थी, तथापि हमारा यह गजवर सूँड़ ऊपर उठाकर चिग्घाड़ता हुआ गजेन्द्र-गमन की मनोहारिता की उपेक्षा कर, चत्वारिंश तुरङ्ग वेग से दौड़ने लगा। हम कुल छः थे। जहाज के मालिक को लेकर, कुल यही सात व्यक्ति मिलाकर जहाज के कमरे के सामने थोड़ी-सी खुली जगह में आराम कुर्सी पर बैठ गये। हमारे सिर के ऊपर केवल एक छत थी। सामने से सनसनाहट-भरी हवा आकर कानों के पास सों सों करने लगी। वह कुर्ते के भीतर प्रवेश करके उसको अकस्मात् फुलाकर फर फर आवाज करने लगी और मेरी भाभीजी के सुदीर्घ सुसंयत बालों को बार-बार अवाध्यताचरण करने के लिए उत्साहित करने लगी। सुना जाता है कि ये बाल जहरीले साँप के वंशधर हैं, इसीलिए विद्रोही होकर वेणी-बन्धन को छोड़कर पूजनीया भाभीजी की नाक और उनके मुख में अपना पथ ढूँढ़ने लगे, फिर और कुछ ऊपर मुख उठाकर उछलते-उछलते माथे के ऊपर विधिपूर्वक नागर-लोक का उत्सव मचाने लगे। केवल वेणी नामक अजगर साँप, सैकड़ों बन्धनों में आबद्ध होकर, सैकड़ों घुमावों में घूमकर, निर्जीव भाव से जूड़े के आकार में गरदन के पास कुण्डली बाँध कर पड़ा रहा। अन्त में पता नहीं, किस समय भैया जी कंधे की तरफ सिर झुकाये नींद में सो गये, भाभीजी ने भी बालों का ऊधम भूलकर कुर्सीपर अपने नेत्रों को मूँद लिया।

जहाज निरन्तर चल रहा है। लहरें चारों तरफ उछल-कूद मचा रही हैं, उनमें से एक-एक सभी को छोड़कर सफेद फन लेकर मानो हठात् जहाज के डेक पर झपट्टा मारने के लिए आ रही हैं, गरज रही हैं, पीछे पड़ी अपनी संगिनियों को सिर उठाकर बुला रही हैं; स्पर्धा करके फूल-

फूलकर चल रही हैं, माथे के ऊपर सूर्यकिरणें दीप्तिमान नेत्रों की तरह चमक रही हैं; नावों को करवट झुका कर उसके अन्दर क्या है, यह देखने के लिए ऊपर उठ पड़ती हैं; क्षणमात्र में कौतूहल मिटाकर नाव को झकझोर कर फिर पता नहीं, वे कहाँ चली जा रही हैं। आफिस की पतली नौकाएँ अपने पाल उड़ाकर मधुर गति का आनन्द मानो आप ही उपभोग करती हुई चली जा रही हैं। वे महत् मस्तूल-किरीटिनी जहाज की गम्भीरता की उपेक्षा करती हैं। स्टीमर की पिनाक ध्वनि को भी वे नहीं मानतीं, वरन् बड़े-बड़े जहाजों के एकदम सामने पाल फहराकर हँसती हुई एकदम मजाक करती हुई चली जाती हैं, जहाज भी इस अवस्था से अपना विशेष अपमान नहीं समझता। किन्तु पीछे बँधे हुए, केवल सामान ढोनेवाले बोटों का आचरण भिन्न है। उनके हिलने में तीन घंटे का समय लगता है, उनका चेहरा नितान्त स्थूल बुद्धि की तरह है; वे आप-ही-आप डिगने में असमर्थ होकर अन्त में जहाज को डिगने के लिये कहते हैं, वे यदि शरीर के पास आ पड़ें तो उनकी वह स्पर्धा असह्य मालूम होती है।

एक समय हमें समाचार मिला कि हमारे जहाज का कप्तान उपस्थित नहीं है। जहाज छोड़ने के पहले ही रात के समय वह कहीं लापता हो गया है। यह सुनते ही मेरी भाभीजी की नींद का नशा एकदम टूट गया। अकस्मात् यह विचार उनके मन में उठ गया कि, जब कप्तान नहीं है तब लंगर की अचल शरण का अवलम्बन करना ही कल्याणकर है। भैया जी ने कहा—इसकी कोई जरूरत नहीं है, कप्तान के अधीन जो लोग काम करते हैं, वे कप्तान की अपेक्षा किसी बात में कम नहीं है। मालिक महोदय का भी यही मत था। बाकी साथी चुप हो रहे, किन्तु उनके मन के भीतरी भाग में किसी तरह की प्रसन्नता नहीं हुई। किन्तु मैंने देखा कि जहाज सचमुच ही चल रहा है, और शोर गुल के कारण कप्तान का अभाव पूर्णरूप से छिप गया है, इसलिए मैं चुपचाप बैठ रहा।

अकस्मात् जहाज के हृदय का धुक् धुक् शब्द निकलना बन्द हो गया। मशीन का चलना रुक गया। 'लंगर गिराओ लंगर गिराओ' की आवाज उठने लगी। लंगर गिराया गया। मशीन के एक स्थान में कहीं का एक जोड़ खुल गया है, उसकी मरम्मत हो जाने पर ही जहाज चल सकेगा। मरम्मत का काम आरम्भ हो गया। इस समय दिन के साढ़े दस बजे हैं, डेढ़ बजने के पहले मरम्मत समाप्त होने की सम्भावना नहीं है।

× × ×

मैं बैठा बैठा गङ्गा तट की शोभा देखने लगा। शान्तिपुर के दक्खिन से आरम्भ होकर गङ्गा तट की जो शोभा है, ऐसी शोभा और कहाँ है। पेड़ पौधों की छायादार कुटिया सरीखी—नयनों को आनन्ददायक, लगातार कतार के कतार दोनों तरफ बराबर उगे हुए वृक्ष खड़े हैं, कहीं खाली जगह नहीं है। कहीं तट भूमि हरी घासों से आछन्न होकर गङ्गा की गोदमें लुढ़क पड़ी है, कहीं एक दम नदी के जल तक घने वृक्ष-पौधे, लता-जालों से जड़ित होकर झुकते हुए चले आये हैं—जल की सतह पर उनकी छाया निरन्तर झूम रही है, कुछ सूर्य किरणें उस छाया के बीच झिक-मिक कर रही हैं, और बाकी कुछ पेड़-पौधों के काँपते हुए नरम चिकने हरे पत्तों पर चमक-दमक रही हैं। कोई एक नाव उनके आसपास पेड़ की जड़ के साथ बँधी हुई है। वह छाया के नीचे, अविश्राम जल की कल-कल ध्वनि से, मृदु मृदु उछाल खाती हुई बड़े आराम की नींद सो रही है। उसकी दूसरी तरफ बड़े-बड़े वृक्षों की अति घनी छाया के बीच से टूटी-फूटी एक पगडंडी जल के पास तक उतर आयी है! उसी रास्ते से गाँव की स्त्रियाँ बगल में घड़ा लिये जल भरने के निमित्त उतर रही हैं, बच्चे कीचड़ पर गिरकर जल उछाल-उछाल कर तैरते हुए बहुत आनन्द मना रहे हैं। पुराने टूटे-फूटे घाटों की भी अनुपम शोभा है। मनुष्यों ने किस दिन इन घाटों को बनाया था, इस बात को एक तरह से भूल जाना पड़ता है, ये भी मानों पेड़ पौधों की ही तरह गंगा तट की अपनी सम्पत्ति

हैं ! इनकी बड़ी बड़ी दरारों के बीच से पीपल के पेड़ उग आये हैं, सीढ़ियों की ईंटों के खोखले से घास उग आयी है, प्रायः वर्षा की जलधारा पड़ते रहने से उनके ऊपर काई जम गई है, और उनका रंग चारो तरफ के पेड़ पौधों के रंगों के साथ सरलता से घुल-मिल गया है। मनुष्य का काम समाप्त हो जाने पर प्रकृति ने अपने हाथों से उसका संशोधन कर दिया है, तूली लेकर जहाँ तहाँ अपना रंग लगा दिया है। अत्यन्त कठिन गर्वयुक्त सफेद सौन्दर्य-सजावट को बिगाड़ कर, टूटी फूटी विशृङ्खलित मधुरता की स्थापना कर दी है। गाँव के जो सब लड़के लड़कियाँ नहाने या जल लेने आती हैं, उन सभी के साथ इनका मानो कोई नाता जुड़ा हुआ है। कोई है इसकी नातिन, कोई है इसकी माँ और मौसी। उन लोगों के बाबा-दादा लोग या दादी-नानी जब इनकी ही तरह शिशु अवस्था में थे, तब इसकी ही सीढ़ी पर बैठकर वे खेलते रहे, बरसात के दिनों में पिछल कर गिरते रहे। और वह जो लीला मण्डली का प्रसिद्ध गायक श्रीनिवास था, वह इसके ही आसन पर बैठकर बेहला बजाया करता था और गौरी रागिनी से "बीत गये बीत गये दिन" गाया करता था। गांव के दो चार सुनने वाले पहुँच जाते थे, उसकी बातें आब किसी की स्मृति में नहीं हैं। गंगा तट के टूटे फूटे देवालियों का मानों कुछ विशेष महात्म्य है। उसमें अब देव-मूर्तियाँ नहीं हैं। किन्तु वह आपही आप जटा-जूट विलम्बित अति पुरातन ऋषि की तरह अतिशय भक्ति-भाजन और पवित्र हो उठा है। किसी-किसी जगह लोकालय हैं, वहाँ मछुओं की नावें कतार-कतार में बँधी हुई हैं। कुछ जल में हैं, कुछ किनारे की जमीन पर उठाकर रख दी गयी हैं, कुछ तट पर औंधी रखी जाकर मरम्मत करायी जा रही हैं। फूस की बनी झोपड़ियाँ एक दूसरे से सटी हुई हैं, किसी-किसी में टेढ़े-मेढ़े घेरे दिये हुए हैं—दो-चार गायें चर रही हैं, गाँव के दो-चार दुबले कुत्ते निकम्मों की तरह गंगा के किनारे घूम फिर रहे हैं; एक नंगा

घड़ंगा लड़का मुँह में अँगुली डालकर बैंगन के खेत में खड़ा है और अवाक् होकर हमारे जहाज की तरफ ताक रहा है। हाँडी बहा कर, लाठी में बँधे हुए छोटे छोटे जाल लिये, मछुओं के लड़के किनारे-किनारे चिंगड़ी मछली पकड़ते हुए घूम रहे हैं। सामने करारे पर केवट-वृद्ध की जालीदार सोरों के नीचे की मिट्टी को नदी का प्रवाह धो ले गया है और उन जड़ों के बीच एक निभृत आश्रय बन गया है। एक बुढ़िया अपनी दो-चार हाँडी-परई और एक टाट लेकर उसी में रहती है। फिर दूसरी तरफ रेती पर बहुत दूर तक कास का जंगल है, शरद् काल में जब फूल लग जाते हैं तब वायु के प्रत्येक हिल्लोल से हलकी समुद्र तरंग उठती रहती है। जिस कारण से हो हो, गंगा के किनारे के ईंट के भट्ठे भी मुझे देखने में बहुत अच्छे लगते हैं। उनके आस-पास पेड़ पौधे नहीं रहते, चारो तरफ परती जमीन ऊबड़-खाबड़ पड़ी हुई है, इधर उधर कुछ ईंटे खिसक पड़ी हैं, बहुत से झावे बिखरे पड़े हैं, जगह-जगह मिट्टी खोदी हुई है—इस असमता के बीच ये भट्ठे कैसे अभागों की तरह खड़े रहते हैं! पेड़ों की कतारों के बीच शिव के द्वादश मन्दिर दिखाई पड़ रहे हैं, सामने घाट है, नौबत खाने से नौबत बज रही है। उसके एक दम निकट ही पार जाने का घाट है। कच्चा घाट है! प्रत्येक सीढ़ी ताल वृक्ष के तने से मढ़ी हुई है। और भी दक्खिन तरफ कुम्हारों के घर हैं, छाजन के ऊपर से कोंहड़े, लटके हुए हैं। एक अधेड़ स्त्री कुटिया की दीवार पर गोबर पोत रही है! आँगन साफ-सुथरा है, चमक दमक रहा है—केवल एक छोर में मचान के ऊपर लउकी की लता चढ़ी हुई है। फिर दूसरी तरफ तुलसी की वेदी है। सूर्यास्त के समय तरंग-विहीन गङ्गा में नाव चलाकर जिसने गङ्गा के पश्चिमी तट की शोभा नहीं देखी, उसके लिए यही कहा जा सकता है कि उसने बंगाल का सौन्दर्य देखा ही नहीं। इस पवित्र शान्तिपूर्ण अनुपम सौन्दर्य-छवि का वर्णन करना असम्भव है। इस सुनहली छाया से म्लान सन्ध्या के उजाले में नारियल के लम्बे-लम्बे

वृक्ष, मन्दिरों की चूड़ाएँ, आकाश के पट पर अंकित निस्तब्ध पेड़ों की चोटियाँ, स्थिर जल के ऊपर पड़ी हुई लावण्यवत् आभा, सुमधुर विराम, निर्वापित कलरव, अगाध शान्ति—ये सभी एक साथ मिलकर नन्दन की एक मरीचिका की तरह, छायापथ के पार्श्ववर्त्ती सुदूर शान्ति-निकेतन की एक छवि की तरह, पश्चिम दिगन्त के छोर पर अंकित दिखाई पड़ते हैं। क्रमशः सन्ध्या का प्रकाश लापता हो जाता है, बन में जहाँ तहाँ एक-एक करके दीपक जल उठते हैं, अकस्मात् दक्षिण दिशा से एक हवा बहने लगती है, पत्तियाँ झर-झर करती हुई काँपने लगती हैं, अँधियारी में वेगवती नदी बहती हुई चली जाती है, कगारे पर निरन्तर तरङ्गाघात के होते रहने से छल्-छल् के शब्द उठते रहते हैं। और कुछ अच्छी तरह दिखाई नहीं पड़ता, सुनाई नहीं पड़ता—केवल झिल्लियों की बोली सुनाई पड़ती है, और जुगनू अन्धकार में चमकते और बुझते रहते हैं। और भी रात बढ़ जाती है। धीरे-धीरे कृष्ण पक्ष की सप्तमी का चन्द्रमा, पीपल के पेड़ के माथे पर घोर अन्धकार टाल कर धीरे-धीरे आकाश पर चढ़ता जाता है। नीचे बन का पंक्तिबद्ध अँधेरा छाया रहता है और ऊपर म्लान चन्द्रमा की आभा छिटकी रहती है। थोड़ा सा उजाला अन्धकाराछन्न गङ्गा के बीच एक स्थान में पड़कर लहर-लहर पर टूटता-टूटता चला जाता है। उस पार का अस्पष्ट बन-रेखा के ऊपर कुछ और प्रकाश पड़ जाता है—उतने प्रकाश से अच्छी तरह कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता, वह केवल उस पार की सुदूरता और अस्पष्टता को मधुर रहस्यमय बना देता है। इस पार निद्रा का राज्य है और उस पार स्वप्न का देश है, ऐसा भाव मन में आने लगता है।

गङ्गा के ये जो सब दृश्य मेरे मन में उठ रहे हैं, सभी इस बार की स्टीमर-यात्रा के परिणाम हैं, ऐसी बात नहीं है। ये सब कितने ही दिनों के कितने ही चित्र हैं, जो मन में अंकित पड़े हुए हैं। ये बहुत ही सुखद चित्र हैं, आज इनको चारों तरफ से अश्रुजल के स्फटिक द्वारा

मैंने मढ़वा रक्खा है। इस तरह की शोभा, मैं इस जन्म में फिर कभी देख न सकूँगा।

× × × ×

मरम्मत का काम पूरा हो गया है, यात्रियों का स्नान-भोजन हो चुका है, बहुत शोर-गुल के साथ लंगर उठाया जा रहा है। जहाज छोड़ दिया गया। बायीं तरफ मोचीखोला के नवाब का प्रकाण्ड पिंजड़ा है। दायीं तरफ शिवपुरा का बोटानिकल गार्डेन है। जहाज जितना ही दक्षिण दिशा को जाने लगा, गङ्गा उतनी ही चौड़ी होने लगी। दिन के दो-तीन बजने पर, फलमूल सेवन करने के पश्चात् इसी बात पर विचार-विमर्श होने लगा कि सन्ध्या के समय कहाँ ठहरना ठीक होगा। हमारी बायीं दायीं तरफ से झंडा फहराते हुए अनेक जहाज आये और चले गए। उनकी सगर्व गति देख कर हम लोगों का उत्साह और भी बढ़ गया। हवा यद्यपि उलटी बह रही थी, तथापि प्रवाह हमारे अनुकूल था। हमारे उत्साह के साथ-साथ जहाज का वेग भी बहुत बढ़ गया था। जहाज बहुत ही हिलने लगा। दूर से दिखाई पड रहा था कि एक बड़ा हिलकोरा गरदन ऊपर उठाये चला आ रहा है। हम सभी आनन्द के साथ उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे जहाज की बगल में निष्फल रोष के साथ, उमड़-उमड़कर गरजते हुए जहाज की लौह-निर्मित पंजरी पर जोर लगाकर सिर पटकने लगे, निराश होकर दो कदम पीछे हटकर फिर आकर आघात करने लगते, हम सभी मिलकर यही देख रहे थे। अकस्मात् मैंने देखा कि मालिक महोदय बदरंग चेहरे से कर्णधार के पास द्रुत वेग से चले जा रहे हैं। एकाएक आवाज उठ पड़ी—'ठहरो, ठहरो! रोको, रोको!' गंगा की लहरों की अपेक्षा प्रचण्डतर वेग से हम सभी का हृदय दहलने लगा। निगाह उठाकर ताकने से दिखाई पड़ा कि एक लोहे का पीपा बड़े वेग से हमारे जहाज की तरफ चला आ रहा है, अर्थात् हम पीपे के ऊपर तीव्रता से चले जा रहे हैं। किसी तरह भी अपने को सम्हालने

में समर्थ नहीं हो रहे हैं। सभी मन्त्र-मुग्ध की भाँति पीपे की तरफ दृष्टि लगाये हुए हैं। वह भैंसे की तरह सींग ऊपर उठाये चला आ रहा है। अन्त में उसने टक्कर लगा दी।

२

कहाँ है वह निरन्तर सुनाई पड़ने वाला जल-कल्लोल, सौ लाख तरंगों का दिन रात चलने वाला उत्सव, कहाँ है वह अविरल वन-श्रेणी, आकाश की वह परिपूर्ण नीलिमा, धरणी के नव-जीवन से परिपूर्ण हृदयोच्छ्वास की भाँति उस अनन्त की तरफ चिर उच्छ्वसित विचित्र वृक्षों की लहरें, कहाँ हैं उस प्रकृति के श्यामल स्नेह में प्रच्छन्न वे सब शिशु लोकालय—कहाँ है उस चिर स्थिर आकाश के नीचे वह चिर चञ्चला नदी ? चिर स्तब्ध के साथ चिर कोलाहलमय का, सर्वत्र समान के साथ चिर विचित्रका, निर्विकार के साथ चिरपरिवर्तन का शक्ति के साथ अविच्छेदप्रेम का मिलन कहाँ है। यहाँ सुर्खी-ईंटों में, नासिका-छिद्रों में, गाड़ी-घोड़े में हठयोग चल रहा है। यहाँ चारों तरफ दीवार के साथ दीवार का, दरवाजे के साथ अगरी का, धरन के साथ बडेरी का, चपकन के साथ बटन का घनिष्ठ मिलन है।

पाठक-गण सम्भवतः समझ गये होंगे कि अब तक खुली जमीन में लिखा जा रहा था—खुली जमीन में भले ही न हो खुले जल में ही, सही—अब हम जमीन पर रहने वाले जमीन पर लौट आये हैं। अब यहाँ की बातें यहाँ, पहले की बातें पीछे लिखी जा रही हैं, इसलिए इस समय जो कुछ लिखूँगा, उसकी भूलचूक के लिए दायी न हो सकूँगा।

अभी मध्याह्न का समय है। मेरे सामने एक डेस्क है, कदमपोश के ऊपर एक काला मोटा कुत्ता सो रहा है, बरामदे में जंजीर से बँधा हुआ एक बन्दर पूँछ की जूँ चुन रहा है, तीन कौए मुडेरे पर बैठकर अकारण

चिल्ला रहे है, और एक-एक बार खप् से बन्दर का भुक्तावशिष्ट भात चोंच में लेकर उड़कर छत के ऊपर जा बैठते है। कमरे के कोने में एक पुराना हारमोनियम रखा हुआ है, उसके अन्दर कई चूहे खट्-खट कर रहे है। कलकत्ता शहर की इमारत का एक सूखा कठोर कगार है। इसमें ही मैं गंगा का आवाहन कर रहा हूँ—तपः क्षीण जह्लुमुनि की शुष्क पाषाणस्थली की अपेक्षा यहाँ बहुत अधिक स्थान है। और स्थानसंकीर्णता नामक कोई पदार्थ प्रकृति के भीतर नहीं है। वह हमारे मन में है। देखो—बीज में है अरण्य, जीव में है उसकी अनन्त वंश-परम्परा। मैं जो स्टीफेन साहब की एक बोतल ब्लू-ब्लैक स्याही खरीद लाया हूँ, उसकी ही प्रत्येक बूँद के भीतर कितने ही पाठकों की सुपरि, मदर डिचर के आकार में विराज रही है। स्याही की यह बोतल दैवयोग से यदि सुयोग्य हाथ में पड़ जाती तो उसको देखकर मैं सोचने लगता, सृष्टि के पूर्ववर्ती अन्धकार के बीच यह विचित्र आलोकमय अमर जगत् जिस तरह प्रच्छन्न था, उसी तरह उस एक बोतल के अन्धकार में कितनी ही आलोकमय नूतन सृष्टियाँ प्रच्छन्न हैं। एक बोतल देखने से ही इतनी बातें मन में आ जाती हैं। जहाँ स्टीफेन साहब का स्याही का कारखाना है, वहाँ खड़ा होकर एक बार सोचने से सम्भवतः मस्तिष्क को ठीक न रख सकूँगा। कितनी ही पोथियाँ, कितनी ही चप्पलें, कितना यश, कितने कलङ्क, कितना ज्ञान, कितना पागलपन, कितने फाँसी के हुकुम, कितनी युद्ध की घोषणाएँ, प्रेम की लिपियाँ काली-काली होकर सोतों में बाहर निकल रहा हैं। वह सोता जब सारे जगत् के ऊपर से बह जाता तब, जाने दो यह बात। स्याही तो लगातार लुढ़कती जाने लगी है, स्टीफेन साहब का समचा कारखाना ही दैवात् मानो उलट-पलट गया है, इस बार ब्लाटिंग पेपर की बातें याद पड़ रही हैं। सोते को बदल दिया जाय। आओ, इस बार गङ्गा के सोते में आओ।

सत्य घटना में और उपन्यास में फर्क है, उसका प्रमाण देखो।

हमारा जहाज पीपे से टकरा गया, तो भी वह नहीं डूबा, परम वीरत्व के साथ किसी का उद्धार नहीं करना पड़ा। प्रथम परिच्छेद में, जल में डूब कर मर जाने वाला, छब्बीसवें परिच्छेद में तट पर पहुँच कर जीवित नहीं हो गया। मैं न डूब कर सुखी हो गया हूँ इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु लिखने से सुखी नहीं हो रहा हूँ। पाठकगण अवश्य ही अत्यन्त निराश होंगे, किन्तु मैं डूब नहीं गया, यह मेरा दोष नहीं है, यह एकदम भाग्य का दोष है।

मैं मर तो नहीं गया, यह ठीक है, किन्तु यमराज के भैंसे की सींग का धक्का खाकर लौट आया। इस कारण उस झकझोरी की बात स्मरण-फलक पर खुदी रह गयी। थोड़ी देर तक अवाक् भाव से एक दूसरे का मुख देखा गया, सभी के चेहरे पर एक भाव था, सभी ने वाक्य व्यय करना नितान्त निरर्थक समझ लिया। भाभीजी एक बृहत् कुर्सी में, कैदी एक तरह की होकर बैठी रहीं। उनके दो छोटे बच्चे मेरी दोनों बगलों में सट कर खड़े हो रहे। भैयाजी कुछ क्षण तक बारम्बार मूछ पर ताव देकर किसी भी निर्णय पर न पहुँच सके। मालिक महोदय ने रुष्ट होकर कहा, यह सब ही मल्लाह का दोष है। मल्लाह ने कहा, उसके अधीन जिस व्यक्ति ने पतवार पकड़ी थी उसका दोष है। उसने कहा, पतवार का दोष है। पतवार कुछ न बोल कर मुँह झुकाये जल में डूबकी लगाये रहा, गंगा ने बीच बचाव कर उसकी लाज बचा ली।

यहीं ही लंगर गिरा दिया गया। यात्रियों का उत्साह देखते-देखते घट गया। प्रातःकाल जैसा मुख का भाव, कल्पना की उड़ान और चहल-पहल दिखाई पड़ा था, तीसरे पहर को ठीक वैसा नहीं देखा गया। हमारा उत्साह लंगर के साथ-साथ, सात हाथ जल के नीचे उतर पड़ा। एक मात्र आनन्द का विषय यह था कि हम लोगों को भी उतनी दूर उतरना नहीं पड़ा। किन्तु अकस्मात् उसकी ही सम्भावना के सम्बन्ध में चैतन्यता उत्पन्न हो गयी। इस सम्बन्ध में हम लोग जितनी गहराई में

डूबकर विचार करने लगे, उतनी ही गहराई में डूब जाने की सम्भावना मन ही मन उदित होने लगी। उसी समय दिनमणि अस्ताचल चूड़ावलम्बी हो गये। बारीसाल जाने के पथ की अपेक्षा बारी साल न जाने का पथ अत्यन्त सहज और संक्षिप्त है, इस विषय पर सोच-विचार करते-करते भैयाजी जहाज की छत के ऊपर टहलने लगे। मैं एक मोटे रस्से की कुण्डली के ऊपर बैठ कर इस घनीभूत अन्धकार के बीच हास्य-कौतुक की बत्ती जलाने की चेष्टा करने लगा, किन्तु वर्षाकाल की दियासलाई की काठी की तरह वे अच्छी तरह नहीं जलीं। बहुत घिसने से रह-रह कर यों ही कुछ-कुछ चमकाहट निकल पड़ने लगी। जब 'सरोजिनी' अपने यात्रियों के साथ गङ्गागर्भ की पङ्किल विश्राम-शय्या पर आश्रय प्राप्त करने लगी, तब अखबार के सैड एक्सीडेन्ट के स्तम्भ में एक ही पैराग्राफ में केवल चार ही पंक्तियों में कैसे संक्षेप में, मैं निर्वाण-मुक्ति लाभ करूँगा, इस विषय में तरह-तरह की बातों का अनुमान करने लगा। यह समाचार एक चम्मच गरम चाय के साथ एक अति छोटी वाटिका की भाँति कैसे निर्विघ्न रूप से पाठकों के गले के नीचे उतर जायगा, उसकी कल्पना की गयी। मित्र गण वर्तमान लेखक के सम्बन्ध में कहेंगे—'अहा! कितना बड़ा महामना व्यक्ति चला गया जी—ऐसा अब कोई न होगा।' और लेखक की पूजनीय भाभी जी के सम्बन्ध में कहेंगे—'अहा! दोष गुण दोनों ही मिले-जुले उस स्त्री में थे, जैसी भी क्यों न रही हो, फिर भी उन्होंने घर में उजाला कर रक्खा था।' इत्यादि इत्यादि! जाँते के भीतर से जिस तरह विमल शुभ्र मैदा निकलता रहता है, उसी तरह भाभी जी के दबे हुए ओष्ठ-युगल के बीच से हंसी का ढेर फूट फूट कर बाहर निकलने लगा।

आकाश में तारे उग गये, दक्खिनी हवा बहने लगी, खलासियों का नमाज पढ़ना समाप्त हो चुका है, एक पागल खलासी अपना तारों का यन्त्र बजाकर, सिर के घुंघराले बालों को हिलाकर परम उत्साह के साथ

गाना गा रहा है। छत के ऊपर बिछौने पर जिसको जहाँ ही जगह मिली, वह उसी जगह सो रहा, कभी कभी एक अपरिस्फुट जम्हाई और सुपरिस्फुट नासिका-ध्वनि श्रुतिगोचर होने लगी। वार्तालाप बन्द था। मालूम हुआ मानों एक वृहत् दुस्वप्न-पक्षी हम लोगोंके ऊपर निस्तब्ध भाव से बोझ लादकर हम लोगों को अंडों की तरह से रहा है। मैं अस्थिर न रह सका। मेरे मन में विचार आने लगा, मधुरेण समापयेत्। यदि ऐसी ही घटना हो जाय, किसी सुयोग से यदि जन्मपत्री के अन्तिम गृह में ही पहुँच चुका हूँ, यदि जहाज ठीक वैतरणी के दूसरे पार के घाट पर ही जाकर रुक जाय· तो उस हालत में बाजा बजा दो चित्रगुप्त की मजलिस में, जिससे मैं हाँड़ी की तरह मुँह फुला कर अ-रसिक की तरह देखने में न जान पड़ूँ। और यदि वह जगह अँधेरा ही हो तो, यहाँ से अन्धकार साथ लेकर रानीगंजी कोयला ढो ले जाने की विडम्बना किसलिए! तो बजाओ! मेरे भतीजे ने सितार पर झनकार लगा दी। झिनि झिनि, झिन झिन। इमन कल्याण बजने लगा।

उसके दूसरे दिन पूछताछ करने से मालूम हुआ कि इस जहाज में इस चीज का, उस सामग्री का, अनेक वस्तुओं का अभाव है। उनके न रहने से भी जहाज चलता रहता है जरूर, किन्तु यात्रियों की जरूरत देखकर नहीं चलता, अपनी ही रुचि के अनुसार चलता है। कलकत्ते से जहाज का सामान लाने के लिये आदमी भेजे गये। अभी कुछ दिन इसी जगह ठहरना है।

गंगा के बीच जहाँ तहाँ, एक एक बार न रुकने से गंगा की माधुरी का उपभोग अच्छी तरह नहीं होता। क्योंकि, नदी का एक प्रधान सौंदर्य है उसकी गति का सौंदर्य। चारों तरफ मधुर चञ्चलता, ज्वार-भाटे का आना-जाना, तरंगों का उठना-गिरना, जल के ऊपर छाया लोक का उत्सव— गंगा के बीच एक बार स्थिर होकर न खड़ा होने से ये सब भली भाँति

दिखाई नहीं पड़ते। और गंगा का उछलना-कूदना, आग का उत्ताप, खलासियों का गोलमाल, मायाबद्ध दानव की भाँति चमकदार नेत्रवाले इञ्जन का गों-गों शब्द के साथ विश्वासपूर्ण कठोर परिश्रम करना—ये सभी गंगा के प्रति अत्यन्त अत्याचार के समान प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त गंगा की सुन्दरता की उपेक्षा करके दौड़ लगाना, कार्य-तत्पर अति सभ्य उन्नीसवीं शताब्दी को ही शोभा देता है, किन्तु किसी रसज्ञ को यह सहन करने योग्य नहीं होता। यह तो मानो आफिस जाते समय नाक-मुख में भात ठूस देने की ही स्थिति है। अन्न का अपमान करना है! मानो गंगा यात्रा का एक संक्षिप्त संस्करण तैयार कर देना है। यह मानों महाभारत का सूचीपत्र निगल जाना है।

हम लोगों का जहाज लौह-शृंखला अपने गले में बाँध कर सीधा खड़ा रहा। नदी तीखे प्रवाह से बहती चली जा रही है। कहीं तो यह तरंग संकुल है, कहीं शान्त दिखायी पड़ती है, कहीं संकीर्ण है, कहीं प्रशस्त है, कहीं कटाव लग गया है, कहीं रेती पड़ गयी है। किसी-किसी जगह कूल-किनारा नहीं दिखाई पड़ता। हमारे सामने दूसरे पार बादल की रेखा की तरह दिखाई पड़ रही हैं। चारो तरफ मछुओं की डोंगियाँ हैं, और पाल फहराती हुई नावें हैं। बड़े-बड़े जहाज, प्राचीन पृथ्वी के बृहदाकार सर्पज्ञ जातीय जल-जन्तु की तरह बहते हुए, चले जा रहे हैं। स्त्रियाँ गंगा के जल में शरीर धोने-पोछने आयी हैं। धूप घटती जा रही है। बाँसों की झाड़ी, खजूरों का बन, आम का बगीचा, झोप-झाड़ियों के भीतर एक एक गांव दिखाई पड़ रहा है। किनारे की जमीन पर बछड़ा दौड़ लगाकर गरदन और पूँछ को तरह-तरह की भंगियों से उछालता हुआ एक बड़े स्टीमर के साथ साथ दौड़ता जा रहा है। कई मानव सन्तान किनारे खड़े होकर थपोड़ी बजा रहे हैं। जिस चमड़े को पहिनकर पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे, उससे अधिक पोशाक पहनने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी है। क्रमशः अन्धकार छा गया। तटवर्ती कुटिया में

बत्ती जला दी गयी। सारे दिन का जाग्रत आलस्य समाप्त करके रात्रि की निद्रा में अपने शरीर मन को मैंने अर्पित कर दिया।

विविध बातें

पृथ्वी के प्रकाश में, उसकी छाया में, उसकी गन्ध में उसके गान में, मनुष्य का हृदय बिखरा हुआ है, फैला हुआ है। अतीत काल के असंख्य मानवों के प्रेम से मानों यह पृथ्वी ओढ़ना फहरा रही है; वायुमण्डल में जिस तरह उसके वाष्प की चादर है, यह उसी तरह उसका चिन्मय आवरण है; इसके भीतर से मनुष्य अपने चिरन्तन मन का रंग पाता है, सुर पाता है। इसीलिए जब सुनता हूँ कि हमारे प्राचीन पूर्व-पुरुषों के युग में भी 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे मेघमाश्लिष्टसानु' दिखाई पड़ता था तब हम अपने अन्दर उन पूर्वपुरुषों का चित्त अनुभव करते हैं, उनका वह मेघ देखने का सुख हमारे सुख के साथ युक्त हो जाता है। हम समझ जाते हैं कि, जो लोग चले गये हैं, वे भी विद्यमान हैं।

× × ×

निर्जन स्थल में अरण्य के वृक्ष नितान्त शून्य रहते हैं। किन्तु जिस वृक्ष की तरफ किसी मनुष्य ने दृष्टि उठाकर देखा है, उस वृक्ष के ऊपर उस मनुष्य की दृष्टि अपनी छाप छोड़ गयी है। बहुत दिनों से जिस वृक्ष के नीचे धूप उग आने के समय मनुष्य बैठता है, उस वृक्ष में जिस प्रकार हरा रंग रहता है, उसी प्रकार मनुष्यत्व का अंश रहता है। हमारे उन्हीं पुरुषों के नेत्रों की आभा, हमारे स्वदेश-आकाश की तारकाओं की ज्योति में प्रतिफलित हो रही है। स्वदेश के विजन में हमारे शतसहस्र साथियों का वास है, स्वदेश में हमारी शतसहस्र वर्ष परमायु है।

× × ×

साधारणतः लोग मकड़े के जाल के साथ हमारे जीवन की तुलना करते हैं। बन्धन ही हमारा वासस्थान है। बन्धन न रहने से हम निराश्रित

हो जाते हैं। उस बन्धन की रचना हम अपने ही भीतर से करते हैं। बन्धन की रचना करना हमारे लिए ऐसा स्वभाविक है कि, एक बार जब जाल टूट जाता है, तो देखते-देखते फिर हम सैकड़ों बन्धन जोड़ने के लिए बैठ जाते हैं, हम भूल जाते हैं कि, फिर यह जाल टूट ही जायगा। हम नये स्थानों में जाते हैं, वहाँ नये बन्धनों में अपने को जकड़ने लगते हैं, वहां के वृक्षों में, भूमि में, आकाश में, वहाँ के चन्द्र-सूर्य तारों में, वहाँ के मनुष्यों में, वहां के रास्तों-घाटों में, वहां के आचार-व्यवहार में, वहां के इतिहास में, हम अपने जाल के सैकड़ों सूत जोड़ देते हैं। बीच में रख लेते हैं अपने को। इस तरह हम मकड़ों की जाति के ही अन्तर्गत हैं।

× × ×

हम आबद्ध न होने से मुक्त नहीं हो पाते। अंग्रेजी में जिसे 'फ्रीडम' कहते हैं, वही हम लोगों में नहीं है, देशी भाषा में जिसे स्वाधीनता कहते हैं, वही हम लोगों में है। कठिनतर अधीनता स्वाधीनता है। सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्। किन्तु दूसरों के अधीन होना ही सहज है, अपने अधीन होना कठिन है।

स्वाधीनता का अर्थ है अपनी अर्थात् एक की अधीनता, अधीनता का अर्थ है दूसरों की अर्थात् हजारों की अधीनता। जिसका अपना गृह नहीं है, उसको कभी पेड़ों के नीचे, कभी मैदान में, कभी फूस के ढेर पर, कभी दयावानों की कुटिया में आश्रय लेना पड़ता है। जिसके पास गृह है वह संसार के असंख्य पदार्थों के लिये व्याकुल नहीं रहता। जो नाव पत-वार के अधीन है, वह किसी तरह भी स्वाधीन कहकर गर्व नहीं कर सकती, क्योंकि वह शतसहस्र तरंगों के अधीन है। जो वस्तु पृथ्वी के भाराकर्षण की अधीनता की उपेक्षा करती है, उसको प्रत्येक साधारण वायुहिल्लोल की अधीनता में दस तरफ चक्कर खाकर मर जाना पड़ता है। असीम जगत् समुद्र में अगण्य तरंगे हैं। यहाँ स्वाधीनता के अतिरिक्त हमारे लिए गति नहीं है। इस लिये स्वाधीनता का अर्थ बंधन-मुक्ति

नहीं हूं । स्वाधीनता का अर्थ है कभी पतवार कभी लंगर का सम्मान करना ।

उस दिन मेरे एक मित्र मुझसे पूछ रहे थे, नये कवियों की अब आवश्यकता क्या है ? पुराने कवियों की कविताएं तो अनेक हैं। ऐसी कौन-सी नयी बातें अब इन कविताओं में कही जा रही हैं। पुरानी बातों को लेकर ही तो काम चल जाता है।

नूतन ही पुरातन की रक्षा करता रहता है। पुराने के भीतर ही नये का निवास है। नूतन पुरातन में विच्छेद होने से ही जीवन का अवसान हो जाता है। जिस दिन देखूँगा कि पृथ्वी में नया कवि अब कोई नहीं बच रहा है, उस दिन जानूँगा कि पुराने कवियोंकी पूर्णतः मृत्यु हो चुकी है।

नूतन कविता की धारा सूख जाने से पुरातन में पहुँचने का सोता बन्द हो जाता है। हमारे बीच के इस दीर्घ व्यवधान को निरन्तर कौन लोप कर रखता है ! यही नूतन कविता !

प्रत्येक बसन्त नूतन गानों में और नूतन फूलों में पुरातन को ही पाता है। हम कहा करते हैं नवीन बसन्त, किन्तु प्रत्येक बसन्त ही है पुरातन बसन्त।

× × ×

व्याप्त हो जाने से जो अन्धकार है, एकत्र हो जाने से वही प्रकाश है। और भी संहत हो जाने से वह अग्नि है। संहति ही प्राण है। संहत हो जाने से ही तेज, प्राण, आकार, व्यक्ति जाग्रत हो उठते हैं। हम जड़ोपासक शक्ति के उपासक हैं इसीलिए बृहत्व की उपासना करते हैं, बृहत्व में अभिभूत हो जाते हैं। किन्तु बृहत् की अपेक्षा लघु अधिक आश्चर्यजनक है। हाइड्रोजन और आक्सीजन बाष्प-राशि का अपेक्षा एक बिन्दुजल अधिक आश्चर्यजनक है। सुविस्तृत नीहारिका की अपेक्षा संक्षिप्त सौर जगत् अधिक आश्चर्यजनक है। आरम्भ बृहत् है, परिणाम

है छोटा। आवर्त का मुख अति बृहत् होता है, आवर्त का शेष एक बिन्दु मात्र है। सुविशाल जगत् घूमता हुआ इस द्रव की तरफ—बिन्दुपन की तरफ चलता है। केन्द्र के महत् आकर्षण से परिभि सदास होकर केन्द्रत्व में आत्मविसर्जन करने चली जाती है।

हम जितना ही बृहत् होते जाते हैं उतना ही देश काल के अधीन हो जाना पड़ता है। आयतन को लेकर हमारा निरतर युद्ध चलता रहता है। किसके साथ? दानव काल और दानव देश के साथ। देश काल कहता है—आयतन मेरा है। मेरी चीज मुझे लौटा दो! निरंतर लड़ाई करके अन्त में छीन लेता है। श्मशान क्षेत्र में उसकी डिग्री जारी होती है।

किन्तु हम जानते हैं, हम मृत्युको जीतेंगे। अर्थात् देश काल का अतिक्रमण करेंगे! मनुष्य के अन्दर एक सेनापति है। वह युद्ध कर रहा है। प्रतिदिन लाख-लाख मर रहे हैं, किन्तु युद्धका विराम नहीं है। हम संहति पर ही अधिकार करके व्याप्ति को जीतेंगे। मनुष्य की यही है साधना।

× × ×

संहति पर अधिकार करना ही कठिन है। हमारा हृदय-मन वाष्प की तरह चारों तरफ बिखरा हुआ है। फैल करके व्याप्त हो जाना जिस तरह वाष्प का स्वाभाविक गुण है, हमलोग भी उसी तरह स्वभावतः ही चारों तरफ विक्षिप्त हो जाते हैं। भीतर सुदृढ़ आकर्षण-शक्ति न रहने से अपना होकर हम पराया हो जाते हैं। अपने को बिन्दु में निविष्ट करना ही कठिन है। योगी लोग इस बिन्दुमात्र में स्थायी हो जाने के लिए, बृहत् संसार का आश्रय छोड़ कर सूच्यग्र स्थान के लिए ही लड़ाई करते हैं। वे लोग बिन्दु के जोर से व्यापक पर अधिकार करेंगे। संकीर्णता के जोर से परिकीर्णता लाभ करेंगे।

संहत दीपशिखा अपने प्रकाश से समस्त गृह पर अधिकार करती है। किन्तु वही शिखा जब प्रच्छन्न उत्ताप के आकार में गृह की धरनों में, बँड़ेरी में, उसके उपकरणों में व्याप्त हो रहती है, तब गृह ही उसे बन्द कर रखता है, वह भाग नहीं सकती। जितना व्याप्त हो जाऊँगा उतने पर अधिकार करूँगा, इसका उलटा ही ठीक है। अर्थात् तुम जितना व्याप्त हो जाओगे, उतना ही अधिकृत हो जाओगे। किन्तु चारों तरफ से अपने को प्रत्याहार करके जब वह्निशिखा की तरह स्वतन्त्र दीप्ति पाओगे, तब अपने उस तेजस्वी स्वातन्त्र्य की ज्योति से चारों दिशाओं को उज्ज्वल रूप से अधिकार कर सकोगे।

भारतवर्षीय साधना का चरम लक्ष्य है संहति अर्थात् अध्यात्म योग। प्राणशक्ति, मानशक्ति, अध्यात्मशक्ति को संहत कर सकने से ही अन्तर को, बाहर को जीता जा सकता है।

× × ×

मेरे किसी मित्र ने लिखा है अतीत काल अमरावती है। अतीत में अमृत है। अतीत है संक्षिप्त। वर्तमान केवल असंख्य छोटे-छोटे मुहूर्त्त हैं, अतीत काल में वह मुहूर्त्त-राशि संहत हो जाती है। वर्तमान है तीस पृथक् दिन, अतीत है एक समग्र मास। जिसको हम प्रत्येक वर्तमान मुहूर्त्त में देखते हैं, हम प्रतिक्षण उसकी मृत्यु को ही देख पाते हैं, जिसको अतीत में देखते हैं उसकी अमरता देख पाते हैं।

× × ×

जब हम गढ़ना आरम्भ करते हैं, तब प्रतिमा नेत्रों के सम्मुख जागती रहती है, जब हम गढ़ना पूरा कर देते हैं, तब देखते हैं कि वह खत्म हो चुकी है। सुदूर लक्ष्य की ओर जब हम यात्रा आरम्भ करते हैं, तब लक्ष्य के प्रति इतना आकर्षण रहता है कि वह लक्ष्य मानो प्रत्यक्ष ही है, और पथ के अन्तिम छोर पर जब हम यात्रा समाप्त कर देते हैं, तब पथ के ऊपर इतनी माया लगी रहती है कि लक्ष्य की फिर

याद ही नहीं पड़ती। जिसकी आशा करते हैं, उसको जिस परिमाण में हम पाते हैं, आशा पूरी हो जाने पर उसको फिर उस परिमाण में नहीं पाते! अर्थात् चाहने से जितना हम पाते हैं, प्राप्त करने पर उतना नहीं पाते।

× × ×

असल बात यह है कि अन्त मनुष्य के हाथ में नहीं है। अन्त हो गया या समाप्त हो गया, कह कर हम जो दुःख प्रकट करते हैं, उसका अर्थ यह है—अन्त नहीं हुआ है, तो भी अन्त हो गया; आकांक्षा बनी हुई है, तो भी चेष्टा का अवसान हो गया। इसीलिए मनुष्य के लिए अन्त का अर्थ है दुःख। क्योंकि मनुष्य की समाप्ति का अर्थ है सम्पूर्णता।

छोटा नागपुर

रात के समय हबड़ा की रेलगाड़ी में सवार हो गया। गाड़ी के झकझोरने से हिल उठने के कारण नींद मानो घुलमिल जाने लगी। चेतना—नींद, स्वप्न-जागरण मिलकर खिचड़ी पक जाने लगी। कभी कभी बत्तियों की कतार, घंटों की आवाज, कोलाहल, विचित्र शब्दों से स्टेशनों का नाम पुकारना, फिर ठन्-ठन्-ठन् घंटे की तीन आवाज हो जाने पर क्षण भर में सब कुछ अन्तर्हित हो जाता था। केवल चतुर्दिक अन्धकाराछन्न, निस्तब्धता में, केवल तारा निशीथिनी में गाड़ी के पहियों के शब्द निरन्तर सुनाई पड़ रहे हैं। उन शब्दों के ताल-ताल से मस्तिष्क के भीतर असम्भव स्वप्नों का दल लगातार सारी रात नृत्य करता रहा। रात्रि के चार बजे मधुपुर स्टेशन पर गाड़ी बदल देनी पड़ी। अन्धकार दूर हो जाने के बाद प्रभात के उजाले में गाड़ी की खिड़की के पास बैठकर मैंने बाहर निगाह उठाकर देखा।

'गाड़ी बराबर आगे बढ़ने लगी। टूटे-फूटे मैदान, सूखी नदी की बालू रेखा की तरह दिखाई पड़ रहे थे, नदी के उस मार्ग में बड़े-बड़े काले-काले

पत्थर, पृथ्वी के कंकाल की तरह बाहर निकल पड़ते थे। कहीं-कहीं एक-एक मुण्ड की तरह पहाड़ दिखाई पड़ रहा था। दूर के पहाड़ गाढ़े नीले रंग के थे, मानो आकाश का नीला मेघ खेलने के लिए आकर पृथ्वी पर पकड़ लिया गया है। आकाश में उड़ने के लिए मानो उसने पंख ऊपर उठा रक्खे हैं, किन्तु बँधे रहने के कारण उड़ने में समर्थ नहीं हो रहा है—आकाश से उसके सजातीय बादलगण आकर उसको आलिंगन कर जाते हैं। वह देखो, पत्थर की तरह काला, झाड़ सरीखे बालों की चोटी बाँधे, एक मनुष्य हाथ में एक लाठी लिए खड़ा है। दो भैंसों के कंधे पर हल नधा हुआ है। अभी जुताई शुरू नहीं हुई है। वे स्थिर होकर रेलगाड़ी की तरफ ताक रहे हैं। जहाँ तहाँ कोई कोई खेत घृतकुमारी के घेरे से घेर दिया गया है। साफ जगह है, चमक रही है, बीच में एक पक्का कुँआ है। चारो तरफ बहुत सूखापन दिखाई पड़ रहा है। पतली लम्बी सूखी सफेद घास, पके बालों की तरह मालूम हो रही है। छोटे छोटे पत्र-विहीन पौधे सूखकर टेढ़े मेढ़े काले रंग के हो गये हैं। दूरी दूरी पर, एक एक ताल वृक्ष, छोटा सा माथा और एक लम्बा पैर लेकर खड़ा है। कहीं कहीं एक एक पीपल का पेड़, आम का पेड़ भी दिखाई पड़ता है। सूखे खेत के बीच केवल एक पुरानी कुटिया है जिसकी छाजनविहीन टूटी-फूटी दीवार अपनी परछाईं की तरफ देख रही है। पास ही एक बड़े पेड़ के जले हुए कुन्दे का कुछ हिस्सा पड़ा हुआ है।

सबेरे ६ बजे गिरीडीह स्टेशन पर जा पहुँचा, वहाँ से आगे रेलगाड़ी का रास्ता नहीं है। यहाँ से डाक गाड़ी से जाना होगा। इन डाक गाड़ियों को मनुष्य खींचकर ले जाते हैं। इसको क्या गाड़ी कह सकते हैं! चार चाकों के ऊपर एक छोटा सा पिंजड़ा।

सबसे पहले गिरीडीह डाक बँगले में जाकर स्नान भोजन किया गया। डाक बँगले के बाद जितनी ही दूर तक नजर उठाकर देखा जाय, कहीं घास का चिन्ह नहीं है। कहीं-कहीं इने-गिने पेड़ खड़े हैं। चारो

तरफ मानो लाल मिट्टी की लहर है। एक दुबला-पतला टट्टू पेड़ के नीचे बँधा है, चारो तरफ ताक रहा है और सोच-विचार में पड़ा हुआ ठीक निर्णय नहीं कर सकता कि क्या खाना चाहिये। कोई काम न रहने के कारण पेड़ के तने में शरीर रगड़ कर खुजलाहट दूर कर रहा है। एक दूसरे पेड़ में एक बकरी लम्बी रस्सी से बँधी हुई है। वह बहुत गवेषणा के बाद साग की तरह कुछ हरे रंग का उद्‌भिज पदार्थ पट् पट करके तोड़ रही है। यहाँ से यात्रा फिर शुरू की गयी।

रास्ता पहाड़ी है। सामने पीछे निगाह उठाकर देखने से दूर तक दिखाई पड़ता है। शुष्क शून्य सुविस्तृत मैदान में सर्प की तरह टेढ़ा-मेढ़ा छाया-हीन सुदीर्घ पथ धूप में सोया पड़ा है। दुःख-कष्ट उठाकर, बोलकर, खींचकर, गाडी चढ़ाकर रास्ते की ऊँचाई पर पहुँचायी जाती है, फिर एकबार गड़बड़ाती हुई द्रुत वेग से ढालू रास्ते में उतर आती है। क्रमशः चलते चलते आसपास पहाड़ दिखलाई पड़ने लगे। लम्बे लम्बे पतले-पतले शाल-वृक्ष दृष्टिगोचर हुए। दीमकों के दूह मिले। कँटीले वृक्षों की जड़ें मिलीं। कहीं कहीं ऐसा पहाड़ मिला, जो नीचे से ऊपर तक केवल लम्बे पतले पत्र-विहीन वृक्षों से ढका हुआ था। उपवासी वृक्षगण अपनी सूखी, पतली, हड्डी मात्र वाली लम्बी अंगुलियों को आकाश की तरफ उठाये हुए हैं। इन पहाड़ों को देखने से मालूम होता है मानो, ये हजार बाणों से बिंधे जा चुके हैं, मानो भीष्मजी की शरशय्या है। आकाश में बादल घिर आये हैं, थोड़ी-थोड़ी वर्षा आरम्भ हो गयी है। कुली लोग गाड़ी खींचते-खींचते कभी-कभी विकट चीत्कार कर उठते हैं। कहीं-कहीं रास्ते के कंकड़ों से ठोकर लगने से गाड़ी अत्यन्त चौंक उठती है। बीच के स्थान में रास्ता खराब हो गया, विस्तृत बालुका शय्या पर एक नदी की क्षीण रेखा दिखाई पड़ी। नदी का नाम पूछने पर कुलियों ने कहा—'बड़ाकर नदी।' खींच घसीटकर गाड़ी को इस नदी के ऊपर से पार ले जाकर उन लोगों ने फिर रास्ते पर उसे पहुँचा दिया। रास्ते के

दोनों तरफ गड्ढों में जल भरा हुआ है। [illegible] शरीर पर माथा रक्खे आधा शरीर डुबाये हुए [illegible] हमारी तरफ केवल एक एक बार कटाक्षपात कर रहे हैं।

जब सन्ध्या हुई, हम गाड़ी से उतर कर पैदल [illegible] निकट ही एक पहाड़ दिखाई पड़ रहा था, उसके भीतर से [illegible] चला गया है। जहाँ भी नजर उठाकर देखो [illegible], वहाँ ही [illegible], मनुष्य नहीं, मनुष्य-गृह नहीं, फसल नहीं, [illegible] तरह ऊँची-नीची पृथ्वी, निस्तब्ध निःशब्द [illegible] कर रही है। दिगन्त-दिगन्त के ऊपर गोधूलि की [illegible] हुई [illegible] के अन्धकार की छाया आ पड़ी है कहीं भी [illegible], [illegible] नहीं हैं, तो भी जान पड़ता है, मानो इस [illegible] भूमि शय्या पर किसी एक विराट पुरुष के लिए निद्रा का आयोजन हो रहा है। मानो कोई प्रहरी की तरह मुख में अंगुली [illegible], इसीलिए सभी भय के मारे श्वास रोके हुए हैं।

दूर से छायामूर्ति की तरह एक पथिक गाड़ी की पीठ पर बोझा लादे हमारे पास से चला गया।

रात किसी तरह जागते-सोते काटकर [illegible] गया। [illegible] पर मैंने देखा कि बायीं तरफ घनी पत्तियों से परिपूर्ण [illegible]। [illegible], लताएँ फैली हुई हैं, भूमि तरह-तरह की [illegible] से आच्छन्न है। जंगल के माथे के ऊपर से दूरस्थ पहाड़ का नीला शिखर दिखाई पड़ रहा है। बड़े-बड़े पत्थर हैं, पत्थरों की दरारों में [illegible] हैं। [illegible] शिथिल जड़ें लम्बी होकर चारों तरफ से निकल पड़ी हैं, पत्थर को पकड़ कर वे अपनी कठिन मुट्ठियों से [illegible] को [illegible] लेना चाहती हैं। [illegible] बायीं तरफ का जंगल न जाने कहाँ चला गया। कुछ दूर तक फैला हुआ मैदान है। दूरी पर गायें चर रही हैं, वे चींटियों की तरह छोटी-छोटी दिखाई पड़ रही हैं। मैंने अगला बैलों के कंधे पर हाथ रखकर [illegible]

पूँछ मलते हुए हरवाहे खेत जोत रहे हैं। जुते हुए खेत बायीं तरफ पहाड़ के ऊपर सीढ़ी-दर-सीढ़ी की तरह, एक थाक के बाद एक थाक के रूप में ऊपर चले गये हैं।

दिन के तीन बजे हजारीबाग के डाक बँगले में पहुँच गया, प्रशस्त मैदान के बीच हजारीबाग शहर अत्यन्त साफ दिखाई पड़ रहा है। शहरी भाव विशेष नहीं है। गली कूचे, कूड़ा कर्कट, पनाले, गोल माल, गाड़ी घोड़े, धूल कीचड़, मक्खी-मच्छड़, इन सबका प्रादुर्भाव बहुत ज्यादा नहीं है। मैदान-पहाड़, पेड़-पौधों के बीच शहर चमक दमक रहा है।

एक दिन बीत गया। अब दोपहर का समय है। डाक बगले के सामने के बरामदे में आराम कुर्सी पर चुपचाप बैठा हुआ हूँ। आकाश खूब नीला है। बादलों के दो छोटे टुकड़े पाल उड़ाये चले जा रहे हैं। कुछ कुछ हवा बह रही है। एक तरह की मीठी मीठी, भींगी भींगी गन्ध मिल रही है। बरामदे की छाजन पर एक गिलहरी है। दो मैना बरामदे में आकर चकित भाव से पूँछ नचाती हुई उछल कूद मचा रही हैं। पास के रास्ते से गाय बैल लिये लोग आ जा रहे हैं, उनके गले में बँधी घंटी की ठून ठून आवाज सुनाई पड़ रही है। आदमियों में से कोई माथे पर छाता ओढ़े है, कोई कंधे पर गट्ठर लिये है, कोई दो चार गायें हाँकता हुआ जा रहा है, कोई एक छोटे टट्टू पर चढ़कर रास्ते से अति धीरे धीरे, आराम के साथ चला जा रहा है, कोलाहल नहीं है, व्यस्तता नहीं है, चेहरे पर चिन्ता का चिन्ह नहीं है। देखने से मालूम होता है, यहाँ का मानव-जीवन द्रुत इञ्जन की तरह साँय साँय करता हुआ अथवा भारी बोझ से दबी हुई बैलगाड़ी के पहियों की तरह आर्तनाद करते करते नहीं चल रहा है। पेड़ों के नीचे से थोड़ा सा शीतल झरने का जल जिस तरह छाया के निम्न मार्ग से कल् कल् करता हुआ जाता है, जीवन उसी तरह चला जा रहा है। सामने है वह कचहरी। किन्तु यहाँ की कचहरी भी कोई बहुत कठोर मूर्त्ति की नहीं है। भीतर

जब कि वकील वकील में लड़ाई छिड़ी हुई है, तब बाहर के पीपल वृक्ष से दो पपीहों के निरन्तर उत्तर-प्रत्युत्तर चल रहे हैं। विचारप्रार्थी मनुष्यगण आम के पेड़ की छाया में बैठकर जमावड़ा लगाये ठठा ठठा कर हँस रहे हैं, यहाँ से ही उनका यह हँसना सुनाई पड़ रहा है। कभी कभी कचहरी से दोपहर के घंटे बजते सुनाई पड़ रहे हैं। चारो तरफ जब जीवन की मृदुमन्द गति है, तब इस घंटे की आवाज सुनने से पता चल जाता है कि, शिथिलता के सोते में समय बहकर चला नहीं गया है, समय बीच में खड़ा होकर प्रति घंटे पर लौह कंठ से कह रहा है—"और कोई जाग उठे या न उठे। मैं जाग रहा हूँ।" किन्तु लेखक की अवस्था ठीक वैसी नहीं है। मेरी आँखों में तन्द्रा आ रही है।

बन्द कमरा

बृहत् मकान में केवल एक कमरा बन्द है। उसके ताले में मोरचा लग गया है, उसकी चाभी कहीं ढूँढने से नहीं मिलती। सन्ध्या के समय उस कमरे में बत्ती नहीं जलती, दिन के समय उस कमरे में मनुष्य नहीं रहता—इसकी ऐसी हालत कितने दिनों से है कौन जानता है।

उस कमरे को खोलने में भय मालूम होता है, अँधेरे में उसके सामने से चलने में शरीर सिहर सिहर उठता है। जहाँ मनुष्य हँसकर मनुष्य के साथ बातें नहीं करता, वहां ही हमारे लिए सब भय रहता है। जहां मनुष्य के साथ मनुष्य की भेंट मुलाकात होती रहती है, उस पवित्र स्थान में भय फिर आ नहीं सकता।

दो दरवाजों को ढक कर कमरा बीच में खड़ा है। दरवाजे के ऊपर कान रोप रखने से कमरे के अन्दर से मानों हू हू शब्द सुनाई पड़ता है।

यह कोठरी विधवा है। कोई इसमें रहता था, वह चला गया है, उसी समय से इस कमरे का दरवाजा बन्द है। तभी से यहाँ कोई आता भी नहीं, यहां से अब कोई जाता भी नहीं। उसी दिन से यहां मानो मृत्यु की भी मृत्यु हो गयी है।

इस जगत् में विश्रामहीन जीवन का प्रवाह मृत्यु को छू छू करके बहा ले जाता है, मृत कहीं भी ठहर नहीं सकता। इसी भय से समाधि-भवन, कृपण की तरह मृत को चोरों के हाथ से बचा रखने के लिये पत्थर की दीवारों के बीच छिपा रखता है, भय उसके ऊपर दिन रात पहरा देता रहता है। लोग मृत्यु को ही चोर कह कर उसकी निन्दा करते हैं, किन्तु जीवन भी क्षणमात्र में मृत्यु को चुरा कर अपने बहु-विस्तृत परिवार में बाँट देता है, इस बात का उल्लेख कोई नहीं करता।

पृथ्वी, मृत्यु को भी गोद में उठा लेती है, जीवन को भी गोद में उठा रखती है। पृथ्वी की गोद में दोनों ही भाई बहन की तरह खेलते हैं। यह जीवन मृत्यु का प्रवाह देखने से, या भृंगों की उछाल के ऊपर छाया प्रकाश का खेल देखने से, हमें कोई भय नहीं रहता; किन्तु बद्ध मृत्यु, रुद्ध छाया देखने से ही हमें भय मालूम होता है। मृत्यु की गति जहां है और जीवन का हाथ पकड़ कर जहां मृत्यु एक तरफ से नाचती है, वहां मृत्यु का भी जीवन है, वहां मृत्यु भयानक नहीं है। किन्तु चिन्हों में आबद्ध गतिहीन मृत्यु ही यथार्थ मृत्यु है, वही भयानक है। इसीलिए समाधि भूमि भय का निवासस्थान है।

संसार में जो कुछ आता है वही चला जाता है। इस प्रवाह से ही जगत् की स्वास्थ्य-रक्षा होती है। कण मात्र का यातायात बन्द हो जाने पर जगत् का सामञ्जस्य टूट जाता है, जीवन उसी तरह चला जाता है, मृत्यु भी उसी तरह चली जाती है। उसको पकड़ रखने की चेष्टा क्यों करते हो? हृदय को पत्थर बनाकर उस पत्थर में उसको समाहित क्यों कर रखते हो? वह केवल स्वस्थता का कारण हो उठता है। छोड़ दो, उसको चले जाने दो, जीवन मृत्यु के प्रवाह को रोक मत रक्खो। हृदय के दोनों ही दरवाजों को समान रूप से खोल रक्खो। प्रवेश के द्वारा से सभी प्रवेश करें, प्रस्थान के द्वार से सभी प्रस्थान करेंगे।

गृह ने दोनों ही दरवाजों को बन्द कर रक्खा है। जिस दिन दरवाजा पहले बन्द हुआ, उस दिन का पुराना अन्धकार आज भी गृह के भीतर अकेला जा रहा है। गृह के बाहर, दिन के बाद रात्रि, रात्रि के बाद दिन आ रहा है। गृह में केवल वही एक दिन बैठा हुआ है। समय वहाँ चार दीवारों में ही रुद्ध है। पुरातन कहीं भी नहीं रहता, इसी कमरे में है।

इस गृह का अन्दर बाहर से सम्पूर्ण विच्छेद हो गया है। बाहर की वार्ता भीतर नहीं पहुँचती, भीतर का निश्वास बाहर नहीं आता। जगत् का प्रवाह इस कमरे की दोनों बगल से बह जाता है। इस कमरे ने मानो विश्व के साथ नाड़ी का बन्धन काट दिया है।

दरवाजा बन्द करके गृह रास्ते की तरफ ताक रहा है। जब पूर्णिमा के चन्द्रमा का प्रकाश उसके दरवाजे के पास धरना देकर पड़ा रहता है, तब उसका द्वार अब खुल जाऊँ, खुल जाऊँ, यह सोचने लगता है या नहीं, इसे कौन जानता है। बगल के कमरे में जब उत्सव की आनन्दध्वनि उठती है, तब क्या उसका अन्धकार दौड़कर चला जाना नहीं चाहता? यह कमरा किस तरह चाहता है, किस तरह सुनता है, इसे हमलोग कुछ भी नहीं समझ सकते।

लड़के जो इस कमरे में एक दिन खेलते रहते थे, वह कोलाहलमय दिन इस गृह की निशीथिनी में पड़ा हुआ आज रो रहा है। इस गृह के भीतर जो सब स्नेह-प्रेम की लीलाएँ हो चुकी हैं, उस स्नेह-प्रेम के ऊपर अकस्मात् किवाड़ लगा दिया गया है। इस निस्तब्ध गृह के बाहर खड़ा होकर मैं उनकी रुलाई सुन रहा हूँ। स्नेह-प्रेम बन्द कर, रख छोड़ने के लिये नहीं है। मनुष्य के पास से उसे विच्छिन्न कर, कब्र में डाल रखने के लिये वे नहीं बने हैं। उसे बलपूर्वक बाँध रखने से संसार क्षेत्र के लिये वे रोने लगते हैं।

तो इस कमरे को बन्द मत रक्खो, दरवाजा खोल दो। सूर्य का प्रकाश देखकर, मनुष्यों की आहट पाकर, चकित होकर भय चला जायगा। दुःख

और दुख, जन्म और मृत्यु, शोक और उत्सव, पवित्र समीर की तरह इसकी खिड़कियों के भीतर से चिर दिन यातायात करते रहेंगे। समस्त संसार के साथ इसका मिलन हो जायगा।

पथ के छोर पर

मैं पथ के किनारे बैठकर लिखता हूँ, इसीलिए समझ में नहीं आता कि क्या लिखूँ।

छायामय यह पथ है। इसके छोर पर मेरा छोटा-सा घर है। इसकी खिड़की खुली हुई है। भोर बेला में सूर्य की प्रथम किरणें अशोक वृक्ष की काँपती हुई छाया के साथ मेरे सामने आ खड़ी होती हैं। मुझे देखती हैं, मेरी गोद में पड़कर खेलती हैं, मेरे लेखों के ऊपर आ पड़ती हैं, और जब चली जाती हैं, तब लेखों के ऊपर आ पड़ती हैं, और जब चली जाती हैं, तब लेखों के ऊपर कुछ-कुछ सुनहला रंग छोड़ जाती हैं; मेरे लेखों के ऊपर उनके कनक-चुम्बन के चिन्ह पड़े रह जाते हैं। मेरे लेखों के चारो तरफ प्रभात खिल उठता है। खेतों के फूल, बादलों का रंग, भोर की वायु और जरा नींद की खुमारी मेरे पत्रों के भीतर घुल-मिल जाती हैं; अरुण का प्रेम मेरे अक्षरों के चारो तरफ लिपट जाता है।

मेरे सामने से कितने लोग आते हैं, कितने जाते हैं। प्रभात का उजाला उन्हें आशीर्वाद दे रहा है, स्नेह के साथ कह रहा है—'तुम्हारी यात्रा शुभ हो।' चिड़ियाँ कल्याण गान गा रही हैं, पथ के आस-पास खिल जाने को प्रस्तुत फूल आशा की तरह खिलते जा रहे हैं। यात्रा आरम्भ के समय सभी कह रहे हैं—'भय नहीं है, भय नहीं है।' प्रभात में समस्त जगत् शुभ यात्रा का गान गा रहा है। अनन्त नीलिमा के ऊपर से सूर्य का ज्योतिर्मय रथ दौड़ता जा रहा है। निखिल चराचर मानो अभी-अभी विश्वेश्वर की जयध्वनि करता हुआ निकल पड़ा है। सहास्य प्रभात आकाश में बाँहें पसारे हुए है, अनन्त की तरफ अँगुली से

संकेत करके जगत् को पथ दिखा रहा है। प्रभात है जगत् की आशा, उसका आश्वासन, प्रति दिवस का नन्दी। प्रति दिन वह पूर्व का कनक-द्वार खोल कर जगत् में स्वर्ग से मंगलवार्ता ला देता है, सारे दिन के लिए अमृत संग्रह करके ले आता है, उसके साथ-साथ नन्दन के पारिजात की गन्ध आकर पृथ्वी के फूलों की गन्ध को जगा देती है। प्रभात है जगत् के यात्रा आरम्भ का आशीर्वाद—वह आशीर्वाद मिथ्या नहीं है।

मेरी रचनाओं के ऊपर छाया छोड़कर संसार के लोग रास्ते से चले जा रहे हैं। वे अपने साथ कुछ भी नहीं ले जाते। वे सुख दुःख भूलते-भूलते चले जाते हैं। अपने जीवन से प्रत्येक पल का भार गिराते-गिराते चले जाते हैं। उनका हँसना-रोना मेरी रचनाओं पर पड़कर अंकुरित हो उठता है। अपने गानों को वे भूल जाते हैं, अपना प्रेम वे लोग रख-रख जाते हैं।

और कुछ भी नहीं रहता, किन्तु प्रेम उनके साथ-साथ रहता है। वे सारा पथ केवल प्यार करते-करते जाते हैं। पथ के जिस जगह पर ही वे कदम रख देते हैं, उस उतनी-सी ही जगह को वे प्यार करते हैं। उसी जगह वे चिन्ह रख जाना चाहते हैं; उनकी विदाई के आँसू से उतनी सी जगह उर्वरा हो उठती है। उनके रास्ते के दोनों तरफ नये-नये फूल, नये-नये तारे खिलते रहते हैं। नये-नये पथिकों को प्यार करते-करते वे अग्रसर होते रहते हैं। प्रेम के आकर्षण से वे चले जाते हैं, प्रेम के प्रभाव से उनके पदक्षेप की श्रान्ति दूर हो जाती है। जननी के स्नेह की भाँति जगत् की शोभा उनके साथ-साथ चलती रहती है, हृदय का अन्धकार अन्तःपुर से उनको बाहर बुला लाता है, पीछे की ओर से सामने की तरफ उनको आलिङ्गन करके ले जाता है।

यदि कोई प्रेम को बाँध कर रख सकता तो पथिकों की यात्रा बन्द हो जाती। प्रेम की यदि समाधि कहीं होती तो पथिक उस समाधि के ऊपर जड़ पत्थर की तरह चिन्ह के रूप में पड़ा रह जाता। नाव का रस्सा (गुन)

जिस तरह नाव को बाँध ले जाता है, यथार्थप्रेम उसी प्रकार किसी को बाँधकर रख नहीं देता, किन्तु बाँध कर वह ले जाता है। प्रेम के बन्धन के खिंचाव से, और सभी बन्धन टूट जाते हैं। वृहत् प्रेम के प्रभाव से छोटे प्रेम के सभी सूत्र टूट जाते हैं। इसीलिए जगत् चल रहा है, नहीं तो वह अपने भार से आप ही अचल हो जाता।

पथिकगण जब चलते रहते हैं, तब खिड़की के पास बैठा हुआ उनका हँसना देखता हूँ, रोना सुनता हूँ। जो प्रेम रुलाता है वही प्रेम फिर आँखों के आँसू पोंछ देता है, हँसी का उजाला निखरता जाता है। हँसी से, आँसू से, प्रकाश से 'वर्षा से, हमारे चारो तरफ सौन्दर्य के उपवन को प्रफुल्ल कर रखता है। प्रेम किसी को चिर दिन रोने नहीं देता। जो प्रेम किसी एक के विरह से तुमको रुलाता है, वही प्रेम दूसरे कई लोगों को तुम्हारे पास ला देता है। प्रेम कहता है—'एक बार नजर उठाकर देखो, जो चला गया, उसकी अपेक्षा ये जरा भी कम नहीं हैं।' किन्तु तुम आँखों के आँसू से अन्धे बन गये हो; तुम और किसी को भी देख नहीं पाते, इसलिए प्यार नहीं कर सकते। तुम जब मर जाना चाहते हो, तब संसार का काम नहीं कर सकते। तुम पिछुड़ं घूमकर बैठे रहते हो, जगत् में तुम यात्रा नहीं करना चाहते। किन्तु अन्त में प्रेम की जीत हो जाती है, प्रेम तुमको खींच ले जाता है, तुम तुमको खींच ले जाता है, तुम मृत्यु का सुख बन्द कर चिर दिन पड़े २ नहीं रह सकते।

प्रातःकाल जो लोग प्रफुल्ल हृदय से यात्रा करके निकल पड़ते हैं, उनलोगों को बहुत दूर जाना पड़ेगा, बहुत दूर। पथ के ऊपर यदि उनका प्रेम नहीं रहता, तो वे लोग इस दीर्घपथ में चल नहीं सकते। पथ प्यार करता है इसीलिये प्रति पदक्षेप में ही उन्हें तृप्ति मिलती है। यह पथ प्यार करता है इसी कारण वे लोग चलते हैं। वे कदम नहीं उठाना चाहते। प्रति पग पर उन्हें भ्रम होता है, 'जैसा पा चुका हूँ, ऐसा

अब न पाऊँगा ।' किन्तु अग्रसर होते ही वे फिर सब कुछ भूल जाते हैं। प्रति पग पर वे शोक पोंछते-पोंछते चलते हैं। वे पहले ही आशंका कर बैठते हैं, इसीलिए रोते हैं, नहीं तो रोने का कोई कारण नहीं है।

वह देखो, छोटे से बच्चे को गोद में लिये मां संसार के पथ से चली जा रही है। उस बच्चे के ऊपर मां को किसने बाँध दिया है। उस बच्चे के जरिये मां को कौन खींच कर ले जा रहा है। प्रेम के प्रभाव से, पथ के कांटे मां के पैरों के तलवों में किस तरह फूल बनते जा रहे हैं। बच्चे को मां की गोद में देकर पथ को गृह की तरह मधुर किसने बना दिया है। किन्तु हाय, मां समझने में भूल क्यों करती है। मां क्यों यह सोचती है कि इसी बच्चे में उसके अनन्त का अवसान है। अनन्त के पथ में जहाँ संसार के सभी बालक मिल-जुल कर खेलते-कूदते हैं, एक बालक माँ का हाथ पकड़ कर माँ को बालकों के उसी राज्य में ले जाता है—वहां हैं, शतकोटि सन्तान। वहां विश्व के सभी कोमल मुखों ने खिलकर बिलकुल ही नन्दन-वन बना रक्खा है। आकाश के चांद को छीनाझपटी करके छीन लेने का कैसा आग्रह है। वहां है स्खलित मधुर भाषा का कल्लोल। फिर उस तरफ सुनो—सुकुमार, असहायगण कैसी रुलाई रो रहे हैं। शिशु शरीर में रोग प्रवेश करके, फूलों की पंखड़ियों की तरह कोमल शरीर को जीर्ण बनाता जा रहा है। कोमल कंठ से स्वर नहीं निकल रहा है, क्षीण स्वर से रोने की चेष्टा कर रहा है, रुलाई गले के अन्दर ही लुप्त होती जा रही है। और उन बच्चों के प्रति बर्बर-वयस्क लोगों का कितना अत्याचार हो रहा है।

एक बच्चा आकर मां को संसार के सभी बच्चों की मां बना देता है। जिसके बच्चे नहीं हैं उसके लिए अनन्त स्वर्ग का एक द्वार बन्द है। बच्चा आकर स्वर्ग के उसी द्वार को खोल देता है। उसके बाद तुम चले जाते हो, उसको भी चले जाने दो। उसका काम खत्म हो गया, उसको दूसरा काम करना है।

प्रेम हमलोगों को भीतर से बाहर ले जाता है, अपने पास से दूसरे के पास ले जाता है, एक के पास से दूसरे की तरफ अग्रसर कर देता है। इसीलिये उसको हम पथ का प्रकाश कहा करते हैं। वह यदि मरीचिकावत् भुलावे में डालने वाला प्रकाश रहता, तो वह रास्ते में भुलावा डाल कर, गरदन तोड़ कर तुमको जहां-तहां किसी भी जगह फेंक देता, और पूर्ण रूप से तुमको बन्द कर देता, और जैसी-तैसी जगह में पड़े रह कर तुम्हारी अनन्त यात्रा का अवसान हो जाता—दूसरे पथिक तुमको मृत समझ कर चले जाते। किन्तु इस समय वह काम होने का उपाय नहीं है! एक को प्यार करने से ही फिर दूसरे को प्यार करना सीखोगे। अर्थात् एक को अतिक्रम करने के उद्देश्य से ही दूसरे की तरफ दौड़ जाना पड़ेगा।

पथ दिखाने के लिए ही सभी आये हैं, पथ में विघ्न बन जाने के लिए कोई नहीं आया है। इसीलिए कोई भी भीड़ लगा कर तुमको घेरे नहीं रहता, सभी हट जाते हैं और तुमको रास्ता छोड़ देते हैं, सभी एक-एक करके चले जाते हैं। कोई भी अपने को अथवा किसी दूसरे को बन्द नहीं कर रखना चाहता। अपनी इच्छा से जो व्यक्ति अपने चारों तरफ दीवालें खड़ी कर देता है; काल का प्रवाह लगातार आघात करता हुआ उसकी उन दीवालों को एक दिन तोड़ देता है, उसको रास्ते में निकाल देता है। तब वह आवरण के अभाव से हि-हि करके रो मरता है। जगत् जो द्विधा हो जाने को कहने लगता है, धूलि के बीच आच्छन्न हो जाने के लिए प्राण प्रण से चेष्टा करने लगता है।

हमलोगों ने तो पथिक होकर ही जन्म ग्रहण किया है, अनन्त शक्तिमान यदि इस अनन्त पथ के ऊपर से हमें सिर्फ बलपूर्वक ले जाते, प्रचण्ड भाग्य यदि हमें, हमारे बालों को मुट्ठी में समेट हिंचड़िंच करता हुआ खींच ले जाता, तो उस हालत में हम दुर्बल लोग क्या कर सकते थे? किन्तु यात्रा के आरम्भ में हम शासन की वज्र ध्वनि नहीं सुन रहे हैं, प्रभात की आश्वासनपूर्ण वाणी सुन रहे हैं। पथ में कष्ट है,

दुःख है अवश्य, तो भी हम लोग प्यार करते हुए चले जा रहे हैं। सब समय हम कोई परवा नहीं करते यह ठीक है, किन्तु प्रेम सहस्र दिशाओं में अपनी बाहें फैलाये हुए है। हम चाहते हैं कि, उस निरन्तर प्रेम का आह्वान शिरोधार्य करके ही हम चलना सीखें, मोह में न फंसे रहें, अन्त में अमोघ शासन आकर हमें जंजीर में बांध कर न ले जाय।

मैं इन सहस्र लोगों के विलाप और आनन्द-ध्वनि के किनारे बैठा हुआ हूँ। मैं देख रहा हूँ, सोच रहा हूँ, प्यार कर रहा हूँ। मैं पथिकों से कह रहा हूँ—'तुम लोगों की यह यात्रा लाभदायक हो जाय। मैं अपना प्रेम तुम लोगों को राह खर्च के रूप में दे रहा हूँ।' क्योंकि रास्ता चलने में और किसी चीज की आवश्यकता नहीं है, केवल प्रेम की आवश्यकता है। सभी वही प्रेम सब को दें। पथिक दूसरे पथिक को रास्ता चलने में सहायता प्रदान करे।

लाइब्रेरी

महासागर के सौ वर्षों के कल्लोल को यदि कोई इस प्रकार बाँध रखने में समर्थ हो जाता, जिससे कि वह नींद में पड़े हुए बच्चे की तरह चुप रहने लगता, तो उसी अवस्था में उस नीरव महाशब्द के साथ इस लाइब्रेरी की तुलना होती। यहाँ भाषा चुपचाप पड़ी हुई है, प्रवाह स्थिर बना हुआ है, मानवात्मा का अमर आलोक काले अक्षरों की शृंखला में कागज के कारागार में कैद पड़ा हुआ है। यदि ये लोग अकस्मात् विद्रोही हो उठें, निस्तब्धता को तोड़ डालें, अक्षरों के घेरे को जला कर एकदम बाहर निकल आवें तो...! हिमालय के मस्तक के ऊपर कठिन बर्फों के बीच जिस तरह कितनी-कितनी बाढ़ें बँधी हुई हैं, उसी तरह इस लाइब्रेरी में मानव हृदय की बाढ़ को किसने बाँध रक्खा है!

विद्युत को मनुष्यों ने लोहे के तारों से बाँध रक्खा है, किन्तु कौन जानता था कि मनुष्य शब्दों को निःशब्दों के भीतर बाँध सकेगा! कौन

जानता था कि संगीत को, हृदय की आशा को; जाग्रत आत्मा की आनंद ध्वनि को, आकाश की दैववाणी को वह कागज में लपेट रक्खेगा। कौन जानता है, कि मनुष्य के अतीत को वर्तमान ही बन्दी बना देगा, अतलस्पर्शी कालसमुद्र के ऊपर केवल एक-एक पुस्तक द्वारा पुल बना देगा।

लाब्रेरी में हम सहस्र रास्तों की चौमुहानी पर खड़े हैं। कोई रास्ता अनन्त समुद्र में चला गया है, कोई पथ अनन्त शिखर पर चढ़ गया है, कोई पथ मानव हृदय के अतल स्पर्श में उतर गया है। जो जिस तरह चाहे दौड़ता हुआ चला जाय, कहीं भी उसे बाधा न मिलेगी। मनुष्यों ने अपने परित्राण को बस इस इतनी सी ही जगह में बाँध रक्खा है।

शङ्ख में जिस तरह समुद्र का शब्द सुनाई पड़ता है, उसी तरह इस लाइब्रेरी में हृदय के उत्थान-पतन का वैसा शब्द सुनाई दे रहा है। यहाँ जीवित और मृत व्यक्ति का हृदय आसपास एक मुहल्ले में निवास करता है। वाद और प्रतिवाद यहाँ दो भाइयों की तरह एक साथ रहते हैं। संशय और विश्वास, सम्मान और आविष्कार यहाँ एक दूसरे के शरीर के साथ सटकर निवास करते हैं। यहाँ दीर्घ प्राण, स्वल्प प्राण, परम धैर्य और शान्ति के साथ जीवन यात्रा निर्वाह कर रहे हैं, कोई किसी की भी उपेक्षा नहीं कर रहा है।

कितनी नदियों, कितने समुद्रों पर्वतों को लाँघकर मानव का कंठ यहाँ आ पहुँचा—सैकड़ों वर्षों के छोर से यह स्वर आ रहा है। आओ, यहाँ आओ, यहाँ प्रकाश का जन्मसंगीत गाया जा रहा है।

पहले-पहल अमृत-लोक आविष्कार करके जिन-जिन महापुरुषों ने जिस किसी दिन अपने चारो तरफ मनुष्यों को पुकार कर कहा था—'तुम सभी अमृत के पुत्र हो, तुम लोग दिव्य धाम में वास कर रहे हो उन्हीं महापुरुषों का कंठ ही सहस्र भाषाओं में, सहस्र वर्षों के बीच से इस लाइब्रेरी में प्रतिध्वनित हो रहा है।

इस बंगदेश के प्रान्त से क्या हमारे लिये कुछ कहने लायक बात नहीं

है ? मानव समाज को कोई संवाद देने योग्य विषय क्या हमारे पास नहीं है ? जगत् के एक मात्र संगीत में क्या बंगदेश ही केवल निस्तब्ध हो रहेगा ?

हमारे प्रान्त में स्थित समुद्र क्या हमलोगों को कुछ नहीं कह रहा है ? हमारी गङ्गा क्या हिमालय के शिखर से कैलाश का कोई गान ढोकर नहीं ला रही है ? हमारे माथे पर क्या अनन्त नीलाकाश नहीं है ? उस स्थान से अनन्त काल की चिर ज्योतिर्मयी नक्षत्र-लिपि को क्या किसी ने मिटा दिया है ?

देश-विदेशों से, अतीत-वर्तमान से प्रति दिन हमारे पास मानव-जाति के पत्र आ रहे हैं। हमलोग क्या उनके उत्तर में दो-चार अच्छे-अच्छे शब्द अंग्रेजी अखबार में लिखते रहेंगे ? सभी देश असीम काल से पट पर अपना-अपना नाम अंकित कर रहे हैं, बंगाली का नाम क्या केवल दरख्वास्त के द्वितीय पन्ने पर ही लिखा रहेगा ? जड़ अदृष्ट के साथ मानवात्मा का संग्राम चल रहा है, सैनिकों को आह्वान करके शंखध्वनि बज उठती है, हमलोग क्या अपने बाहरी आँगन के मचान पर उगे हुए लउकी और कोहड़ों को लेकर मुकदमा लड़ते रहेंगे और अपील करते रहेंगे ?

बहुत वर्षों तक नीरव रहकर बंगदेश का प्राण परिपूर्ण हो उठा है। उसको अपनी भाषा में एकबार अपनी बात कहने दो। बंगाली कंठ के साथ मिलकर विश्वसंगीत मधुरतर हो उठेगा।

नव-वर्षा

युवावस्था में अपना अन्त मुझे नहीं मिला, संसार का भी अन्त नहीं था। मैं क्या होऊँगा, क्या कर सकता हूँ, क्या नहीं कर सकता। कामों में भावों में, अनुभावों में, मेरी प्रकृति की दौड़ कहाँ तक है, यह निर्धारित नहीं हुआ था। संसार भी अनिर्दिष्ट रहस्यपूर्ण था। अब अपने संबंध

में, मैं सभी सम्भावनाओं के सीमापर आ पहुँचा हूँ; उसके साथ ही यह पृथ्वी भी संकुचित हो गयी है। अब यह मेरे ही आपिस के कमरे, बैठक-बरामदे में शामिल हो गयी है। उसी तरह पृथ्वी इतनी अधिक अभ्यस्त परिचित हो गयी है कि, मैं यह भूल गया हूँ कि, इस प्रकार के कितने ही दफ्तरखाने, बैठकखाने, बरामदे-दालान, परछाईं की भाँति इस पृथ्वी के ऊपर से चले गये हैं, इसके ऊपर अपना चिन्ह भी वे न रख सके। कितने ही प्रौढ़ व्यक्ति अपने मामले-मुकदमें के मन्त्रणा-गृह को ही पृथ्वी का ध्रुव केन्द्रस्थल मानकर तकिये पर ओठंगकर बैठे हुए थे; उनका नाम उनकी राख के साथ-साथ हवा में उड़ गया है, उसे अब ढूँढ़ पाने का उपाय नहीं है; तो भी पृथ्वी समान वेग से सूर्य की प्रदक्षिणा करती हुई चल रही है।

किन्तु आषाढ़ का बादल प्रतिवर्ष जब ही आ जाता है, तभी अपनी नवीनता से रस परिपूर्ण और पुरानेपन से पूँजीभूत होकर आता है। उसको हमलोग भूल नहीं समझते; क्योंकि वह हमारे व्यवहार के बाहर रहता है। मेरे संकोच के साथ सह संकुचित नहीं होता। जब मित्रों द्वारा वञ्चित, शत्रुओं द्वारा पीड़ित, दुर्भाग्य के द्वारा बाधाग्रस्त होता रहा हूँ, तब केवल हृदय में वेदना का चिन्ह लग गया हो, ललाट पर सिकुड़न पड़ गयी हो, ऐसी बात नहीं है, वरन्, जो पृथ्वी हमारे चारो तरफ स्थिर प्रतिष्ठित है, उसके ही ऊपर मेरे आघातों के दाग पड़ गये हैं। उसका जलस्थल मेरी वेदना से विक्षत, मेरी दुश्चिन्ता से चिन्तित हो मेरे ऊपर पहरा पड़ा है, तब मेरे चारो तरफ की पृथ्वी हटकर खड़ी नहीं हो गयी है। बाण ने मुझे भेदकर उसको बिंध डाला है। इसी प्रकार बार-बार मेरे सुख दुःख की छाप लग जाने से यह पृथ्वी मेरी ही कहलाकर चिन्तित हो गयी है।

बादल पर मेरा कोई चिन्ह नहीं है। वह है पथिक। आता जाता रहता है, ठहरता नहीं है। मेरा वृद्धत्व उसको स्पर्श करने का अवकाश नहीं पाता। मेरी आशा-निराशा से वह बहुत दूर है।

इसीलिए कालिदास ने उज्जयिनी के प्रासाद-शिखर से जिस आषाढ़ के बादल को देखा था, हमलोग भी उसी बादल को देख रहे हैं। इसके बीच परिवर्तनशील मनुष्य के इतिहास ने उसे स्पर्श नहीं किया है। किन्तु वह अवन्ती, वह विदिशा कहाँ है ? मेघदूत का मेघ प्रतिवर्ष चिर नूतन, चिर पुरातन होकर दिखाई पड़ता है; विक्रमादित्य की जो उज्जयिनी मेघ की अपेक्षा दृढ़ थी, विनष्ट स्वप्न की तरह उसको फिर इच्छा करने से भी ढूढ़ देने का उपाय नहीं है।

इसी कारण मेघको देखने से, सुखी लोगों का भी अन्यमनस्क भाव हो जाता है, मेघ मनुष्यलोक की चाह में नहीं रहता, इसीलिए वह मनुष्य को उसकी अभ्यस्त सीमा के बाहर ले जाता है। मेघ के साथ हमारी प्रतिदिन की चिन्ताओं, चेष्टाओं और काम-काजों का कोई सम्बन्ध नहीं है, इसी कारण वह हमारे मन को छुट्टी दे देता है। मन तब बन्धन मानना नहीं चाहता, प्रभुशाप से निर्वासित यक्ष का विरह तब उद्दाम हो उठता है। प्रभु-भृत्य का सम्बन्ध संसार का सम्बन्ध है; मेघ संसार के इन सब आवश्यकीय सम्बन्धों को भूल जाता है, तभी हृदय बाँध तोड़ कर अपना पथ ढूँढ़ निकालने की चेष्टा करता है।

बादल अपने नित्य नूतन चित्र-विन्यासों से, अन्धकार से, गगन से, वर्षण से, परिचित पृथ्वी के ऊपर एक प्रकाण्ड अपरिचय का आभास छोड़ देता है; एक बहुदूरवर्ती काल और बहुत दूर देश की निविड़ छाया को गाढ़तर बना देता है। तब परिचित पृथ्वी के हिसाब से जो असम्भव था, वह सम्भव प्रतीत होने लगता है। कर्म-पाश में बद्ध प्रियतम आ नहीं सकता, तब इस बात को पथिक वधू मानना नहीं चाहती। संसार के कठिन नियम को वह जानती है, किन्तु केवल ज्ञान से जानती है; वह नियम अब भी कार्यान्वित होता है, यह बात निविड़ वर्षा के दिन उसके हृदय में प्रतीति नहीं होने देती।

मैं वही बात सोच रहा था—भोग के द्वारा यह विपुल पृथ्वी, यह

चिरकाल की पृथ्वी मेरे लिए छोटी हो गयी है। मैं उसको जिस परिणाम में पा चुका हूँ, उसको उतने ही अंश में सीमित जानता हूँ, मेरे भोग के बाहर उसका अस्तित्व है, इसको मैं मानता ही नहीं हूँ। जीवन कठोर होकर बँध गया है, साथ ही साथ उसने अपनी आवश्यकीय पृथ्वी को खींचकर कस डाला है। अपने में और अपनी पृथ्वी में अब मुझे कोई रहस्य नहीं दिखाई पड़ता, इसीलिए मैं शान्त होकर पड़ा हुआ हूँ। मैं यही समझता हूँ कि, अपने को पूर्णतः जान गया हूँ और मैंने यह भी स्थिर कर लिया है कि अपनी इस पृथ्वी को भी पूर्णतः जान गया हूँ। ऐसे ही समय में पूर्व के क्षितिज को स्निग्ध अन्धकार से आच्छन्न करके कहाँ से वही शत शताब्दियों का कालिदास का मेघ आ पहुँचता है। वह मेरा नहीं है, मेरी पृथ्वी का भी नहीं है; वह मुझे किस अलकापुरी में, किस चिरयौवन के राज्य में, चिरविच्छेद की वेदना में, चिरमिलन के आश्वासनों में, चिरसौन्दर्य की कैलाशपुरी के पद-चिन्हहीन तीर्थ की तरफ आकर्षण करता रहता है। तब, मैं पृथ्वी के जितने ही अंश को जानता हूँ, उतना ही तुच्छ हो जाता हूँ, जिसको मैं जान नहीं सका हूँ, वही बड़ा हो उठता है, जिसको मैं न पा सका, वही प्राप्त वस्तु की अपेक्षा अधिक सत्य मालूम होने लगता है। मैं जान जाता हूँ कि अपने जीवन में, अपनी शक्ति में, बहुत ही थोड़ा अधिकार स्थापित कर सका हूँ। जो बृहत् है, उसको मैंने स्पर्श भी नहीं किया है।

मेरे नित्य कर्म-क्षेत्र को, नित्य परिचित संसार को आच्छन्न करके सजल मेघ—परिपूर्ण नववर्षा—मुझे अज्ञातभाव से लोक के बीच सभी विधि-विधानों के बाहर एकदम अकेले खड़ा कर देता है, पृथ्वी के इन कई वर्षों को छीनकर वह मुझे एक प्रकाण्ड परमायु की विशालता के बीच स्थापित कर देता है। मुझे रामगिरि आश्रम के जनशून्य शैलशृंग की शिलाओं के नीचे संगीहीन दशा में छोड़ देता है। उस निर्जन शिखर, और मेरे किसी एक चिरनिकेतन अन्तरात्मा के चिरगम्य स्थान अलका-

पुरी के बीच, एक सुवृहत् सुन्दर पृथ्वी पड़ी हुई है यह बात मुझे याद पड़ जाती है। एक ऐसी विपुल पृथ्वी जो नदी की कल-ध्वनि से ध्वनित हो रही है, जो शिखरयुक्त पर्वतों से ऊबड़ खाबड़ है, जामुन वृक्ष के कुंजों की छाया से अन्धकारमय है, और नये जल से सींचे गये जुही फूलों की सुगन्ध से परिपूर्ण है। हृदय उसी पृथ्वी के बन बन में, गाँव गाँव में, चोटी चोटी पर, नदी के किनारे घूमते घूमते, अपरिचित सुन्दर का परिचय लेते लेते, दीर्घ विरह के अन्तिम मोक्षस्थान में जाने के लिए मानसोत्सुक हंस की भाँति उत्सुक हो उठता है।

मेघदूत के अतिरिक्त नववर्षा का काव्य किसी साहित्य में कहीं भी नहीं है। इसमें वर्षा की समस्त अन्तर्वेदना नित्यकाल की भाषा में लिख डाली गयी है। प्रकृति के वार्षिक मेघोत्सव की अनिर्वचनीय कवित्व-गाथा मानव की भाषा में बँधी हुई है।

पूर्व मेघ से वृहत् पृथ्वी हमारी कल्पना के सामने उद्घाटित हो गयी है। हमलोग सम्पन्न गृहस्थ बनकर आराम से सन्तोष के अर्धनिमिलित लोचनों से जिस गृह में वास कर रहे थे, कालिदास के मेघ ने 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' हठात् आकर हमें उस स्थान से हटाकर गृहहीन बना दिया। हमारे गौ-गृह और अन्नगृह से बहुत दूर जो चकोहों से चंचल बनी नर्मदा भ्रुकुटी तान कर बह रही है, जिस चित्रकूट का पादकुंज खिले हुए कमलफूलों से विकसित है, उदयन-कथाकोविद् ग्रामवृद्धों के दरवाजों के पास जो चैत्य-वट शुकों की मधुर बोलियों से गुञ्जरित है, वही हमारे परिचित छोटे से संसार का ढककर विचित्र सौन्दर्य के चिरसत्य से उद्-भासित होकर प्रकट हो गया है।

विरही की व्यग्रता रहने पर भी कवि ने पथ संक्षेप नहीं किया है। अषाढ़ के नीलाभ मेघच्छायावृत नद-नदी-नगर-जनपदों के ऊपर से ठहर ठहर कर भावाविष्ट अलस गति से उनकी यात्रा हुई है। जिसने उनके मुग्धनयन को अभ्यर्थनापूर्वक बुलाया है, वे उसके सामने फिर 'नहीं'

शब्द का उच्चारण नहीं कर सके हैं। पाठक के चित्त को कवि ने विरह के वेग से निकाल दिया है, फिर पथ के सौन्दर्य से शिथिल बना डाला है। जिस परम स्थान को मन दौड़ाता जा रहा है, उसका सुदीर्घ पथ भी मनोहर है; उस पथ की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

वर्षा में अभ्यस्त परिचित संसार से विक्षिप्त होकर मन बाहर की तरफ चला जाना चाहता है; पूर्व मेघ में कवि ने हमारी उसी आकांक्षा को बढ़ाकर उसका ही मधुर गान जगा दिया है, हमलोगों को मेघ का साथी बनाकर अपरिचित पृथ्वी के बीच से ले गये हैं। वह पृथ्वी 'अनाघ्रातं पुष्पम्' है, वह हमारे दैनिक कृत्यों के द्वारा किंचित मात्र भी मलिन नहीं है, उस पृथ्वी में हमारे परिचय की चहारदीवारी से कल्पना कहीं भी बाधा नहीं प्राप्त करती। जैसा वह मेघ है, वैसी ही वह पृथ्वी है। मेरे इस सुख-दुःख क्लान्ति अवसाद के जीवन ने उसको कहीं भी स्पर्श नहीं किया है। प्रौढ़ावस्था की निश्चलता ने घेरे से घेरकर उसको अपने घर के बगीचे में शामिल नहीं कर दिया है।

अज्ञात निखिल के साथ नवीन परिचय, यही है पूर्व मेघ। नवमेघ का एक और काम है। वह हमारे चारों तरफ एक परम निभृत परिवेष्टन की रचना करके, 'जननान्तर सौहृदानि' की याद दिला देता है, अपरूप सौन्दर्य लोक के बीच किसी एक चिरज्ञात चिरप्रिय के लिए मन को उतावला बना देता है।

पूर्वमेघ में बहुविचित्र के साथ सौन्दर्य का परिचय है, और उत्तरमेघ में, उसी एक के साथ आनन्द का सम्मिलन है। पृथ्वी में बहु के बीच से उस सुख की यात्रा है, और स्वर्गलोक में एक के बीच से उस अभिसार का परिणाम है।

नववर्षा के दिन इस विषय-कर्म से पूर्ण छोटे से संसार को कौन निर्वासन न कहेगा। प्रभु के अभिशाप से ही यहाँ रुका पड़ा हूँ। मेघ आकर बाहर की यात्रा करने के लिये बुलाता है, वही है पूर्व मेघ का

यान, और यात्रा के अवसान में चिर मिलन के निमित्तजो आश्वासन देता है, वही है उत्तर मेघ का संवाद।

सभी कवियों के, काव्य के गूढ़ अभ्यन्तर में ही यह पूर्व और मेघ उत्तर मेघ है। सभी बड़े काव्य ही हमलोगों को बृहत् के बीच बुला लाते हैं, और निम्न की तरफ निर्देश करते हैं। पहले बन्धन काटकर बाहर निकाल देते हैं, बाद को एक बृहत् के साथ बाँध देते हैं। प्रातःकाल पथ में ले आते हैं, सन्ध्या को घर में ले जाते हैं। एकबार तान के बीच आकाश पाताल घुमाकर सम के बीच पूर्ण आनन्द के साथ खड़ा कर देते हैं। जिस कवि में तान है किन्तु कहीं भी सम नहीं है, जिसमें केवल उद्यम है आश्वासन नहीं है, उसका कवित्व उच्च काव्य श्रेणी में स्थायित्व नहीं पा सकता। अन्त की तरफ किसी एक जगह कहीं पहुँचा देना पड़ेगा, इसी आशा से हम अपने सदा से अभ्यस्त संसार से बाहर निकलकर कवि के साथ यात्रा करते हैं—पुष्पित पथ के बीच से लाकर अकस्मात् एक शून्य गढ़े के करारे के पास छोड़ देने से विश्वासघातकता करना होता है, इसी कारण किसी कवि का काव्य पढ़ते समय हमलोग ये दो प्रश्न करते हैं—उनका पूर्व मेघ हमें कहाँ बाहर निकाल देता है और उत्तर मेघ हमें किस सिंहद्वार के सामने पहुँचा देता है।

केकाध्वनि

अकस्मात् गृहपालित एक मोर की बोली सुनकर मेरे मित्र बोल उठे—'इस मोर की बोली मुझसे सही नहीं जाती, कवियों ने केकारव को अपने काव्यों में किस लिये स्थान दिया है यह बात किसी प्रकार भी मेरी समझ में नहीं आती।'

कवि ने जब कि बसन्त की कोयल की बोली और वर्षा के मोर की बोली, दोनों को ही समान आदर दिया है, तब एकाएक मन में यह

विचार उठ सकता है कि, सम्भवतः कवि कैवल्यावस्था को पहुँच गये हैं—उनके लिये भले-बुरे, ललित-कर्कश का भेद-भाव हो गया है।

केवल केका को ही क्यों, मेढ़क की बोल और झिल्लियों की झनकार को भी कोई मधुर नहीं कह सकता। फिर भी, कवियों ने इन शब्दों की भी उपेक्षा नहीं की है। प्रिया के कंठ-स्वर के साथ इनकी तुलना करने का साहस उनको नहीं हुआ है, किंतु षड्ऋतु के महासंगीत का प्रधान अङ्ग मानकर उनलोगों ने इसके प्रति सम्मान दिखाया है।

एक प्रकार की मिठास है, जो निस्सन्देह मीठी है। वह अपना लालित्य प्रमाणित करने में क्षणमात्र समय नहीं लेती। इन्द्रियों का असन्दिग्ध-साक्ष्य लेकर मन उसका सौन्दर्य स्वीकार करने में जरा भी तर्क नहीं करता। वह स्वयं हमारे मन का अपना आविष्कार किया हुआ नहीं है, इन्द्रिय के जरिये मिला है, इसीलिए मन उसकी अवज्ञा करता है, कहता है, वह नितान्त मीठी है, एकदम मीठी है। अर्थात् उसकी मिठास को समझने के लिए अन्तःकरण की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती, केवल इन्द्रियों के द्वारा ही वह समझ में आ जाती है। जो लोग गानों का मर्म समझने वाले हैं, वे इसी कारण अन्यत्र उपेक्षा दिखाकर कहते हैं, अमुक मनुष्य मीठा गान करता है। भाव यह है कि; मीठा गाने वाला गान को हमारे इन्द्रिय सभा में लाकर नितान्त सुलभ प्रशंसा के द्वारा अपमानित करता है, मार्जित रुचि और शिक्षित मन के दरबार में वह प्रवेश नहीं करता। जो मनुष्य पाट की जानकारी और पहचान रखने वाला खरीद-दार है, वह भींगा पाट लेना नहीं चाहता, वह कहता है—'मुझे सूखा पाट दो, तभी मैं ठीक वजन समझ सकूँगा। गानों का उपयुक्त जानकार कहता है—"निरर्थक रस लाकर गान का निरर्थक गौरव मत बढ़ाना।" मुझे सूखा माल देना, तभी मैं ठीक ठीक वजन पाऊँगा, मैं खुश होकर ठीक दाम चुकता कर दूँगा।' बाहर की निरर्थक मिठास चीजों का असल दाम घटा देती है।

जो सहज ही में मीठा है, उससे शीघ्र ही मन में आलस्य आ जाता है, बहुत देर तक मन उनमें नहीं लगता। अविलम्ब ही उसकी सीमा पर पहुँचकर मन कहता है—'अब क्यों, बहुत हो चुका।'

इस कारण जो मनुष्य जिस विषय में विशेष शिक्षा प्राप्त कर चुका है, वह उसकी जड़ की तरफ के नितान्त सहज और ललित अंश की फिर कोई इज्जत नहीं करता। क्योंकि, उसकी सीमा को वह जान गया है; उसके पास जाने की दौड़ बहुत दूर की नहीं है, इस बात को वह समझता है; इसी कारण उसका अन्तःकरण उसमें जाग्रत नहीं होता। अशिक्षित मनुष्य उस सहज अंश को ही समझ सकता है, परन्तु, समझकर भी वह उसकी सीमा तक पहुँच नहीं सकता, इसीलिये छिछले अंश में ही उसको एकमात्र आनन्द मिलता है। समझदार जानकार लोगों के आनन्द को वह एक अद्‌भुत बात सोचने लगता है, बहुधा उसको कपटता का आडम्बर ही मान बैठता है।

इसी कारण सब तरह की कला-विद्या के सम्बन्ध में शिक्षितों और अशिक्षितों का आनन्द भिन्न-भिन्न मार्ग से जाता है। तब एक पक्ष के लोग कहते हैं,—'तुम क्या समझोगे ?' दूसरा पक्ष कुपित होकर कहता है,—'जो समझने योग्य बात है, उसे केवल तुम ही समझ सकते हो, संसार में और कोई क्या नहीं समझता ?'

सुगंभीर सामंजस्य का आनन्द, संस्थान-समावेश का आनन्द, दूर-वर्ती के साथ योग-संयोग का आनन्द, पार्श्ववर्ती के साथ वैचित्र्य-साधन का आनन्द—ये सब हैं मानसिक आनन्द। भीतर प्रवेश किये बिना, समझे बिना, इस आनन्द का उपभोग करने का उपाय नहीं है। ऊपर से झटपट जो सुख मिल जाता है, उसकी अपेक्षा यह स्थायी और गंभीर है।

एक दूसरी दृष्टि से उसकी अपेक्षा यह व्यापक है। जो गहरा नहीं है, लोगों की शिक्षा का विस्तार के साथ, अभ्यास के साथ, वह धीरे धीरे क्षय को प्राप्त हो जाता है और उसकी रिक्तता बाहर निकल पड़ती है।

जो गहरा है, वह आपाततः बहुत लोगों की पहुँच में न आने पर भी उसकी परमायु बहुत समय की होती है, उसके अन्दर एक श्रेष्ठता का जो आदर्श निहित है, वह सहज ही में जीर्ण नहीं होता।

जयदेव की 'ललित लवंग लता' अच्छी तो अवश्य है, किन्तु वह दीर्घकाल के लिए नहीं है। इन्द्रियाँ उसको मन-महराज के पास निवेदन करती हैं, मन उसको एक बार स्पर्श करके ही रख देता है, तब वह इन्द्रियों के भोग से ही समाप्त हो जाती है। 'ललित लवंगलता' के साथ कुमार सम्भव का एक श्लोक रखकर देख लिया जाय—

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां
वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्प स्तवकाव नम्रा
सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव।

छन्द बिखरा हुआ नहीं है, वचन युक्ताक्षरबहुल है, तो भी भ्रम होता है, यह श्लोक ललित लवङ्ग लता की अपेक्षा कानों को मीठा सुनाई पड़ रहा है। किन्तु यह भ्रम है। मन अपनी सृजनशक्ति के द्वारा इन्द्रिय-सुख की पूर्ति करता जा रहा है। जिस जगह लोलुप इन्द्रियाँ भीड़ लगाकर खड़ी नहीं हो जाती, वहाँ ही मन ऐसे सृजन का अवसर पाता है। 'पर्याप्त-पुष्प स्तबकावनम्रा' इसमें लय का जो उत्थानपतन है, कठोरता कोमलता से यथावत् रूप से मिश्रित होकर इसने छन्द को जैसे झुला दिया है, वह जयदेवी लय की भाँति अतिप्रत्यक्ष नहीं है: वह है निगूढ़। मन उसको आलस्य पूर्वक कहीं पड़ा हुआ नहीं पाता, स्वयं आविष्कार करके ले लेता है और खुश हो जाता है। इस श्लोक में जो एक तरह के भाव का सौन्दर्य है, वह भी हमारे मन के साथ षड्यन्त्र करके एक अश्रुतिजन्य संगीत की रचना कर देता है, वह संगीत समस्त शब्दसंगीत को पार करके चला जाता है, जान पड़ता है मानो कान शीतल हो गये—किन्तु कानों

के शीतल हो जाने की बात नहीं है—मानसी माया से कान ठग लिया जाता है।

हम अपने इस मायावी मन को सृजन का अवकाश यदि नहीं देते तो वह किसी भी मिठास को अधिक समय तक मीठा नहीं मानता। उपयुक्त उपकरण पा जाने से वह कठोर छन्द को ललित, कठिन शब्द को कोमल, बना सकता है। उस शक्ति का प्रयोग करने के लिए वह कवियों के पास अनुरोध भेज रहा है।

कोयल की बोली कानों को सुनने में मीठी नहीं लगती किन्तु अवस्था विशेष में, समय विशेष में, मन उसको मीठा बनाकर सुन सकता है, ऐसी शक्ति मन में है। उस मिठास का स्वरूप कुहूतान की मिठास से पृथक है। नवर्षागमन के गिरिपाद मूल में प्राचीन महारण्य के बीच जो मत्तता उपस्थित होती है, केकाध्वनि उसका ही गान है। आषाढ़ में श्यामायमान तमाल तालीवन के द्विगुणतर घने बने हुए अन्धकार में, मातृ-स्तन्य-पिपासु ऊर्द्ध्वबाहु शतसहस्र शिशुओं की तरह असंख्य शाखा-प्रशाखाओं के आन्दोलित मर्मर-मुखर महोल्लास के बीच, रह रहकर कोयल जिस तालस्वर से, जो एक ध्वनि उठा देती है, उससे प्रवीण वनस्पति-मण्डली के बीच आरण्य महोत्सव का जीवन जाग उठता है। कवि का केकारव उसी वर्षा का गान है, कान उसका माधुर्य नहीं जानता, मन ही जानता है। इसी कारण मन उससे अधिक मुग्ध हो जाता है। मन उसके साथ साथ और भी बहुत कुछ पा जाता है, समस्त मेघावृत्त आकाश, छायावृत्त आरण्य, नीलिमाच्छन्न गिरिशिखर, विपुल मूढ़प्रकृति की अव्यक्त अन्ध आनन्दराशि!

इसी कारण विरहिणी की विरह-वेदना के साथ कवि का कोकिल रव मिला हुआ है। वह श्रुतिमधुर होने के कारण पथिक वधू को व्याकुल नहीं करता, वह समस्या वर्षा का मर्मोद्‌घाटन कर देता है। नर-नारी के प्रेम में एक अत्यन्त आदिकालीन प्राथमिक भाव विद्यमान है; वह बहिःप्रकृति

के अत्यन्त निकटवर्ती है, वह जलस्थल आकाश के अङ्ग अङ्ग में सटा हुआ है। छः ऋतुएँ अपने पुष्पों के साथ साथ इस प्रेम को विविध रंगों से रंग कर चली जाती हैं। जो वस्तु पल्लवों को स्पन्दित करती है, नदियों को तरङ्गित करती है, शस्यों के मस्तकों को हिलाती रहती है, वह इसको भी अपूर्व चञ्चलता से आन्दोलित करती रहती है। पूर्णिमा को, ज्वर का नियत समय इसको फुला देता है और सन्ध्याभ्र की रक्तिमा इसको लज्जामण्डित वधूवेश पहना देती है। एक एक ऋतु जब अपनी सोने की शलाका लेकर प्रेम स्पर्श करती है, तब वह रोमाञ्चित कलेवर से जागे विना रह नहीं सकती। वह अरण्य के पुष्प पल्लवों की ही तरह प्रकृति के निगूढ़ स्पर्श के अधीन है। इसी कारण यौवनावेश विधुर कालिदास ने, छः ऋतुओं के छः तारों से, नर-नारियों का प्रेम किस किस सुर निकलता रहता है, उसी का वर्णन किया है। वे समझ गये हैं कि जगत् में ऋतु-परिवर्तन का सर्वप्रधान काम है प्रेम को जगा देना, फूलों को खिला देना आदि, अन्य सभी कार्य उसके आनुषङ्गिक हैं। इसीलिए, जो कोकिलरव वर्षा ऋतु का शुद्ध सुर है, उसका आघात विरह-वेदना के ठीक ऊपर ही जा पड़ता है।

विद्यापति ने लिखा है—

"मत्त दादुरी, डाके डाहुकी,
फाटि जावत छतिया॥"

मेढ़क की यह बोली नववर्षा के मत्तभाव के साथ नहीं, घनवर्षा के निबिड़ भाव के साथ बहुत ही अच्छी तरह मेल खाती है। मेघ में आज कोई वर्ण-वैचित्र्य नहीं है, स्तर विन्यास नहीं है। शची की किसी पुरानी दासी ने आकाश के प्राङ्गण को मेघों द्वारा समान रूप से लीप दिया है, सब ही काले धूसर रंग का है, तरह-तरह के शस्यों से चित्रित बनी हुई पृथ्वी के ऊपर उज्ज्वल प्रकाश की तूली नहीं पड़ी है, इसीलिये विचित्रता फूट नहीं उठी है। धानों का कोमल चिकना हरा रंग, पाटों का गाढ़ा

रंग और ईखों का पीला रंग विश्वव्यापी कालिमा में मिल गया है। वायु नहीं है। आसन्न वृष्टि की आशङ्का से पंकिल-पथ से लोग निकले नहीं हैं। खेतों में बहुत दिन पहले सभी काम समाप्त हो चुके हैं, पोखरी में करारे की बराबरी में जल भरा हुआ है। इस प्रकार ज्योतिहीन, गतिविहीन, कर्महीन, वैचित्र्यहीन, कालिमालिप्त एकाकार के दिन मेंढक की बोली ठीक सुर को लगा देती है। उसका सुर उस वर्णहीन मेघ की तरह, उस दीप्तिशून्य आलोक की तरह निस्तब्ध निविड़ वर्षा को व्याप्त कर रही है; वर्षा की सीमा को और भी घनी बनाकर चारों तरफ खींच रही है। वह नीरवता की अपेक्षा भी अधिक एक ही तरफ चलनेवाला है। वह है निभृत कोलाहल। इसके साथ झिल्लियों की बोली अच्छी तरह मिल जाती है; क्योंकि जैसे बादल हैं, जैसी छाया है, वैसी ही झिल्ली रव भी एक दूसरा आच्छादन विशेष है—वह स्वरमण्डल में अन्धकार का प्रतिरूप है, वह वर्षानिशीथिनी को सम्पूर्णता प्रदान करता है।

निरर्थक बातें

दूसरे खर्चों की अपेक्षा फजूल खर्ची के ही द्वारा मनुष्य को यथार्थ पहचाना जाता है। क्योंकि मनुष्य व्यय करता है बँधे हुए नियमों के अनुसार, अपव्यय करता है अपने मन की मौज से।

फजूल खर्च करना जैसा है, निरर्थक बातें भी उसी श्रेणी में हैं। निरर्थक बातों से ही मनुष्य अपने को परिचित कर देता है। उपदेश की बातें जिस रास्ते से चलती हैं, वह रास्ता मनु के समय से ही पक्का बँधा हुआ है, कामकाज की बातें जिस राह से अपना रस्ता खींच लाता है, वह रास्ता कर्मठ सम्प्रदाय के चलने से, कदम-कदम की रगड़ से, तृणपुष्प शून्य हो जाने से चिह्नित हो गया है। निरर्थक बातें अपनी ही रुचि के अनुसार बनाकर कहनी पड़ती है।

जो मनुष्य कोई कहने योग्य विशेष बात के न रहने पर एक भी बात नहीं कह सकता, या तो वह वेद-भगवान बोलता है या चुपचाप पड़ा रहता है, संसार में जितनी ही चीजें हैं वे सभी प्रकाश-धर्म्मी नहीं हैं। आग के बिना कोयला न जलता, किन्तु स्फटिक अकारण ही चमकता रहता है। कोयले से बहुत से यन्त्र चलते हैं, स्फटिक हार गूँथकर प्रियजनों के गले में पहनाने के लिए है। कोयला आवश्यक है, स्फटिक मूल्यवान है।

कोई-कोई दुर्लभ मनुष्य हैं जो इस प्रकार स्फटिक की तरह अकारण चमक-दमक सकते हैं। ऐसे मनुष्य सहजही में अपने को प्रकाश में ला सकते हैं—उनको किसी विशेष उपलक्ष्य की आवश्यकता नहीं पड़ती। इनके द्वारा अपनी किसी विशेष आवश्यकता की पूर्ति कर लेने की गरज किसी को भी नहीं रहती। वे अनायास ही अपने को आप ही देदीप्यमान बना देते हैं, यह देखकर ही आनन्द मिलता है। मनुष्य प्रकाश को इतना प्यार करता है, उजाला उसको इतना प्रिय है कि, आवश्यक को छोड़कर, पेट का अन्न फेंककर भी, वह उज्वलता के लिए लालायित हो उठता है। उसका यह गुण देखने से इस सम्बन्ध में सन्देह नहीं रह जाता कि, मनुष्य पतङ्गश्रेष्ठ है। उज्ज्वल नेत्र देखकर जो जाति अकारण प्राण दे सकती है, उसका परिचय विस्तार के साथ देने से अत्युक्ति होगी। किन्तु सबका जन्म पंखसमेत नहीं हुआ है। ज्योति का मोह सब में नहीं है। बहुत से ही लोग बुद्धिमान हैं, विवेचक हैं। गुहा देख लेने पर वे लोग गहराई के बीच प्रवेश करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु उजाला देखने पर ऊपर उड़ जाने का उद्यममात्र भी नहीं करते। काव्य देखने से ये लोग प्रश्न करते हैं, इसमें प्राप्त करने योग्य विषय क्या है, कोई गल्प सुनने पर ये लोग उसका मिलान अष्टादस संहिता के साथ करके, बड़ी ही गवेषणा के साथ विशुद्ध धर्ममत के अनुसार आशीर्वाद या वाहवाही देने के लिए तैयार हो जाते हैं। जो कुछ अकारण है, जो अनावश्यक है उसके प्रति इन लोगों में कोई लोभ नहीं है।

जो लोग आलोक-उपासक हैं, उन्होंने इस सम्प्रदाय के प्रति-अनुराग नहीं दिखाया है। उनलोगों ने इनका जिस नाम से परिचय दिया है, हमलोग उसका अनुमोदन नहीं करते। वररुचि ने इनलोगों को अरसिक कहा है, हमारे मत से यह रुचि गर्हित है। हमलोग इनलोगों को जैसा समझते हैं, अपने उस विचार को मन में ही रख देते हैं। किन्तु प्राचीन काल के लोग मुँह सँभाल कर बातें नहीं करते थे, इसका परिचय एक संस्कृत श्लोक में हमें मिलता है। उसमें कहा गया है—'सिंह के नखरों से नोंच कर निकला हुआ एक गजमुक्ता बन में किसी जगह पड़ा हुआ था, भील जातीय किसी स्त्री ने दूर से उसे देख लिया। दौड़ती हुई वहाँ जाकर उसने उसे उठा लिया। जब उसने उसे दबाकर देखा तो मालूम हुआ कि वह पका हुआ बेर नहीं है, एक मुक्ता है, तब उसने उसे दूर फेंक दिया। स्पष्ट ही यह बात समझ में आ रही है कि, आवश्यकता की विचार-दृष्टि से जो लोग सभी चीजों का मूल्य निर्धारण करते हैं, केवल सौन्दर्य और उज्ज्वलता का विकास जिनको जरा भी विचलित नहीं कर सकता, उनकी तुलना कवि बर्बर नारी के साथ कर रहे हैं। हमारे विचार के अनुसार इनके सम्बन्ध में कवि नीरव रह जाते, तभी वे अच्छा काम करते; क्योंकि ये लोग शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति हैं, विशेषतः विचार करने का भार प्रायः इनके ही हाथ में है। ये लोग गुरुजी का काम करते हैं। जो सरस्वती के काव्य-कमल वन में निवास करते हैं, वे अपने तटवर्ती बनवासियों को विकल न करें, यही मेरी प्रार्थना है।

साहित्य की यथार्थ निरर्थक रचनाएँ कोई विशेष बात कहने की स्पर्धा नहीं रखती। संस्कृत साहित्य में मेघदूत उसका उज्ज्वल दृष्टान्त है। वह धर्म की बात नहीं है, कर्म की बात नहीं है, वह पुराना नहीं है, इतिहास नहीं है। जिस अवस्था में मनुष्य का चेतन-अचेतन सम्बन्धी विचार लुप्त हो जाता है, यह उसी अवस्था का प्रलाप है। इसको यदि कोई बेर समझ कर पेट भरने की आशा से उठा लेंगे तो फिर तुरन्त ही उसे फेंक देंगे।

इसमें आवश्यकता की बात कुछ भी नहीं है। यह एकदम कठोर मुक्ता है; और इसमें विरही के विदीर्ण हृदय का रक्तचिह्न लग गया है, किन्तु उसको पोंछ डालने से भी इसके मूल्य में कुछ कमी न होगी।

इसका कोई उद्देश्य नहीं है, इसी कारण यह काव्य ऐसा स्वच्छ है, ऐसा उज्ज्वल है। यह है एक माया नौका; कल्पना की हवा से इसका सजल मेघनिर्मित पाल फूल उठा है और एक विरही हृदय की कामना ढोती हुई यह निर्विघ्न वेग से एक अपरूप निरुद्देश की ओर तीव्रगति से चली जा रही है—और कोई बोझ इसमें नहीं है।

टेनीसन ने जिस अकारण अश्रुबिन्दु की बात कही है, मेघदूत उसी निरर्थक आँसू का काव्य है। यह बात सुनकर बहुत से ही लोग मेरे साथ तर्क करने को तैयार हो जायँगे। बहुत से ही लोग कहेंगे, जब कि यक्ष प्रभु के शाप से अपनी प्रिया के पास से विच्छिन्न हो गया है, तब आप मेघदूत की अश्रुधारा को अकारण क्यों कह रहे हैं। मैं तर्क करना नहीं चाहता, इन सब बातों का मैं कोई उत्तर न दूँगा। मैं जोर के साथ कह सकता हूँ, यक्ष के निर्वासन सम्बन्धी जो विषय हैं, वे सभी कालिदास के मनगढ़न्त हैं, काव्यरचना के उपलक्ष्यमात्र हैं। उसी बाँस की सीढ़ी के सहारे उन्होंने उस इमारत को तैयार किया। अब हमलोग उस सीढ़ी को हटा देंगे। असल बात यह है कि मन अकारण विरह से विकल हो उठता है, कालिदास ने अन्यत्र इस बात को स्वीकार किया है, आसाढ़ के प्रथम दिन अकस्मात् घनमेघ की घटा देखने से हमारे मन में एक सृष्टि-बहिर्भूत विरह जाग उठता है, मेघदूत उसी अकारण विरह का अमूलक प्रलाप है। यदि यह न होता तो विरही मेघ को छोड़कर विद्युत् को ही दूत बनाकर भेज देता। किन्तु उस दशा में पूर्वमेघ इतना ठहर-ठहर कर, बैठ-बैठकर इस तरह घूमता-फिरता हुआ, इतने यूथीवनों को प्रफुल्ल करता हुआ, इतनी जनपद वधुओं की उत्क्षिप्त दृष्टियों के कृष्णकटाक्षपातों को लूटता हुआ नहीं चलता।

काव्य पढ़ते समय भी यदि हिसाब-किताब की कापी खोल रखने की जरूरत पड़े, हाथोहाथ उसका जमाखर्च मिला ही लेना पड़े, तो मैं यह स्वीकार करूँगा कि, मेघदूत से हमलोग एक तथ्य पाकर विस्मय से पुलकित हो गये हैं। वह यह है कि, उस समय भी मनुष्य थे, और उस समय भी आसाढ़ का प्रथम दिन ठीक नियम के अनुसार आया करता था।

किन्तु असहिष्णु वररुचि ने जिन लोगों के प्रति अशिष्ट विशेषण का प्रयोग किया है, वे लोग क्या ऐसे लाभ को लाभ कहकर गणना करेंगे। इससे क्या ज्ञान का विस्तार, देश की उन्नति, चरित्र का संशोधन हो सकेगा। इसलिए जो अकारण है, जो अनावश्यक है, हे चतुरानन! उसे रस के काव्य में रसिक लोगों के लिये ही ढका रहने दो—जो आवश्यक है, जो हितकर है, उसकी घोषणा की विरति और उसके खरीदार का अभाव न होगा।

मृत्यु एक बहुत बड़ी काले रंग की कठोर कसौटी की तरह है। इसके ही ऊपर रगड़कर संसार के सभी विशुद्ध सोने की परख होती है।

ऐसा एक विश्वव्यापी सार्वजनिक भय यदि पृथ्वी के माथे के ऊपर नहीं झूलता तो सत्य-मिथ्या को, छोटे-बड़े-मझोले को विशुद्ध भाव से तौलकर देखने का कोई उपाय नहीं रहता।

इस मृत्यु के तराजू पर जिन सब जातियों का तौलना हो चुका है, उनको पास-मार्का मिल गया है। उन लोगों ने अपने आपको प्रमाणित कर दिया है कि, अपने सामने और और दूसरों के सामने किसी तरह कुंठित होने का कारण उनके लिए अन्त नहीं है। मृत्यु के द्वारा ही उनका जीवन परीक्षित है। धनवान की यथार्थ परीक्षा दान में है, जिसमें प्राण है। उसकी यथार्थ परीक्षा है प्राण देने की शक्ति में जिसमें प्राण नहीं वही मरने में कृपणता करता है।

जो मरना जानता है, सुख का अधिकार उसको ही है, जो जीत लेता है, भोग करना उसको ही शोभा देता है। जो मनुष्य जीवन के साथ सुख

को, विलास को दोनों हाथों से जकड़े रहता है, सुख अपने उस खरीदे हुए दास के सामने अपना समस्त भाण्डार खोल देता है। वह उसको उच्छिष्ट मात्र देकर दरवाजे के बाहर फेंक रखता है। और मृत्यु का आह्वाहन सुनने के साथ ही जो लोग चुटकी बजाकर चले जाते हैं, चिर आदरणीय सुख की तरफ एकबार पीछे मुड़कर ताकते भी नहीं, उनको ही सुख पसन्द करता है, सुख को वे ही लोग जानते हैं।

जो लोग बल के साथ त्याग कर सकते हैं, वे ही लोग प्रबल भाव से भोग कर सकते हैं। जो मरना नहीं जानते उनके भोग-विलास की दीनता, कृशता, गाड़ी-सवारी और नगमे, चपरासों के द्वारा ढँकी नहीं जाती। त्याग की विलास-विरल कठोरता में, पौरुष विद्यमान है। यदि स्वेच्छा से हम उसे वरण कर सकें तो हम अपने आप को लज्जा से बचा सकेंगे।

ये ही दो मार्ग हैं—एक है क्षत्रिय का मार्ग, और दूसरा है ब्राह्मण का मार्ग। जो लोग मृत्युभय की उपेक्षा करते हैं पृथ्वी की सुख-सम्पत्ति उनकी ही है। जो लोग जीवन के सुख को तुच्छ समझ सकते हैं उनका आनन्द मुक्ति का आनन्द है। इन दोनों में ही पौरुष है। प्राण दे दूंगा यह बात कहना जितना कठिन है, मैं सुख नहीं चाहता यह बात कहना उसकी अपेक्षा कम कठिन नहीं है। इस संसार में यदि हम मनुष्यत्व का गौरव माथे पर रखकर चलाना चाहते हैं तो तो हमें इन दोनों में से एक बात कहने की शक्ति होनी चाहिए। या तो बल के साथ कहना होगा कि 'चाहते हैं' अथवा बल के साथ ही कहना होगा 'हम नहीं चाहते।' 'चाहता हूँ' कह कर रोता रहूँगा, किंतु लेने की शक्ति नहीं है, 'मैं नहीं चाहता' कहकर पड़ा रहूँगा, क्योंकि चाह करने का उद्यम नहीं है—ऐसा धिक्कार ढोते हुए भी जो लोग जीवित रहते हैं, उनको यदि यमराज दया करके न हटा लेवें, तो फिर उनके लिये मर जाने का कोई उपाय नहीं है।

आज-कल बंगाली लोकसमाज में निकल पड़ा है। मुश्किल यह है क जगत् की मृत्यु शाला से, उसको कोई पास नहीं मिला है।

इस कारण उसकी बातचीत जितनी ही बड़ी क्यों न हो, किसी के निकट वह प्रतिष्ठा का दावा नहीं कर सकता। इसीलिये उसके आस्फालन के वचन अत्यन्त असङ्गत सुनाई पड़ते हैं। न मरने से उसका सशोधन होना कठिन है।

अपने पूर्व पुरुषों के विरुद्ध सबसे बड़ा अभियोग हमलोगों का यही है। वे लोग तो आज नहीं हैं, फिर भी भले-बुरे किसी एक अवसर पर वे लोग विधिवत् क्यों नहीं मरे ? यदि वे मर जाते तो उत्तराधिकार सूत्र से हमलोग भी अपनी मरने की शक्ति के सम्बन्ध में आस्था रख सकते। वे लोग स्वयं न खाकर अपने लड़कों के लिये संग्रह कर गये हैं, केवल मृत्यु की व्यवस्था करके नहीं गये हैं। इतना बड़ा दुर्भाग्य, इतनी बड़ी दीनता और क्या हो सकती है ?

अंग्रेज हमारे देश की युद्ध-निपुण जातियों को बुलाकर कहते हैं—'तुम लोगों ने युद्ध किया है, तुम प्राण देना जानते हो। जिन्होंने युद्ध नहीं किया है, जो केवल बकवाद करना जानते हैं उनके दल में शामिल होकर तुमलोग काँग्रेस का अधिवेशन करने जाओ !'

तर्क करके इसका उत्तर दिया जा सकता है किन्तु तर्क के द्वारा लज्जा दूर नहीं होती। विश्वकर्मा नैयायिक नहीं थे, इसीलिए संसार में युक्ति-विहीन बातें पग-पग पर दिखाई पड़ती हैं, इसी कारण जो मरना नहीं जानते, वे केवल युद्ध के ही समय नहीं, शान्ति के समय भी परस्पर ठीक समान भाव से नहीं मिल सकते। युक्ति शास्त्र में यह असंगत है, अर्थहीन है, किन्तु संसार में यह सत्य है।

किन्तु जब सोच-विचार करके यह देखता हूँ कि, हमारी प्राचीन नारियां सती प्रथानुसार मर चुकी हैं, तब आशा बँध जाती है कि मरना बहुत कठिन न होगा। अवश्य ही उनमें से सभी स्वेच्छापूर्वक नहीं मरी थी। किन्तु बहुतों ने ही स्वेच्छापूर्वक मृत्यु को वरण किया था, इसका प्रमाण विदेशियों ने भी दिया है।

किसी भी देश में लोग सबके सब निर्भय होकर स्वेच्छा पूर्वक नहीं मरते। केवल एक दल के थोड़े से लोग मृत्यु को यथार्थ भाव से वरण कर सकते हैं; बाकी सभी कोई या तो दल में शामिल होकर मरते हैं, कोई लज्जा में पड़कर मरते हैं, कोई नियमों की प्रेरणा से जड़ भाव से मरते हैं।

मन से भय बिलकुल ही दूर नहीं होता। किन्तु भय पाने में अपने सामने और दूसरों के सामने लज्जा करने की जरूरत है। बचपन से लड़कों को शिक्षा देना चाहिये जिससे कि भय पाने पर वे लोग अनायास अकपट भाव से उसे स्वीकार न कर सकें। ऐसी शिक्षा पाने से लोग लज्जा में पड़ कर साहस करने लगते हैं। यदि मिथ्या गर्व करना हो तो—मुझमें साहस है—यह मिथ्या गर्व ही सर्वापेक्षा क्षमा करने योग्य है। क्योंकि दैन्य कहो, अज्ञता कहो, या मूढ़ता कहो, मनुष्य चरित्र में भय के समान छोटी चीज और कुछ भी नहीं है, भय नहीं है कहकर जो मनुष्य मिथ्या अहंकार करता है, कम से कम उसमें लज्जा है, इस सद्गुण का भी प्रमाण मिलता है।

जहाँ निर्भीकता नहीं है, वहाँ इस लज्जा की चर्चा करने से भी वह काम में आ जाती है, साहस की तरह लज्जा भी लोगों को बल देती है। लोकलज्जा से प्राण विसर्जन करना कोई असम्भव बात नहीं है।

इसलिए यह बात भी स्वीकार की जा सकती है कि हमारी पितामहियों में से किसी किसी ने लोक लज्जा से भी प्राण दे दिये थे। प्राण देने की शक्ति उनमें थी—लज्जा से ही हो, प्रेम से ही हो, धर्मोत्साह से ही हो, उन्होंने प्राण दिये थे; यह बात याद रखनी पड़ेगी।

वस्तुतः दलबद्ध होकर मरना सहज है। एकाकिनी चिताग्नि पर आरोहण करने की तरह वीरता, युद्ध-क्षेत्र में विरल है।

बंगदेश की उन प्राण-विसर्जनपरायणा पितामहियों आज हम प्रणाम करते हैं। जिस जाति को उन्होंने स्तन का दूध पिलाया था, स्वर्ग में

जाकर वे उसको विस्मृत नहीं होंगी ! तुम अपनी सन्तानों को संसार के चरम भय से उत्तीर्ण कर दो। तुमने कभी स्वप्न में भी यह नहीं जाना है कि अपने आत्म-विस्मृत वीरत्व के द्वारा तुम पृथ्वी के वीर पुरुषों को भी लज्जित कर रही हो। तुम जिस तरह दिन के अन्त में घर-गृहस्थी के काम-काज समाप्त कर चुपचाप पति के पलंग पर आरोहण कर जाती थीं, दाम्पत्य लीला के अवसानदिवस में संसार के कार्य-क्षेत्र से बिदा होकर, उसी प्रकार सहज भाव से वधू वेश में, माँग में मंगल-सिन्दूर पहने, पति की चिता पर आरोहण भी कर जाती थीं। मृत्यु को तुमने सुन्दर बना दिया, शुभ बना दिया, पवित्र बना दिया। चिता को तुमने विवाह-शय्या की तरह आनन्दमय, कल्याणमय बना दिया। बंगदेश का पावक तुम्हारी ही पवित्र जीवनाहुति द्वारा पवित्र हो गया है, आज से इसी बात को हम याद रक्खेंगे। हमारा इतिहास नीरव है किन्तु अग्नि हमारे घर-घर में तुम्हारी वाणी वहन कर रही है। तुम्हारा अक्षय-अमर, स्मरण निलय होने के कारण उस अग्नि को और तुम्हारे उस अन्तिम विवाह के ज्योतिः सूत्रमय अनन्त पट्टवसन को हमलोग प्रतिदिन प्रणाम करेंगे। वह अग्नि-शिखा तुम्हारी उठायी हुई भुजा के रूप में हममें प्रत्येक को आशीर्वाद प्रदान करे। मृत्यु कितनी सहज है, कितनी उज्ज्वल है, कितनी उन्नत है, हे चिरनीरव स्वर्गवासिनी ! अग्नि हमारे गृह-प्राङ्गण में तुम्हारे पास से यही वार्ता वहन करके अभय घोषणा करे।

पर निन्दा

पर निन्दा संसार में इतनी प्राचीन और इतनी व्यापक है कि, अकस्मात् इसके विरुद्ध जैसा तैसा मत व्यक्त कर देना धृष्टता हो जाती है।

नमकीन जल पीने के लिये उपयोगी नहीं है, यह बात एक बच्चा भी जानता है, किन्तु जब मैं यह देखता हूँ कि सात समुद्रों का जल नमक से परिपूर्ण है और जब देखता हूँ कि, यह नमकीन जल सारी पृथ्वी

को घेरे हुए है; तब यह बात कहने का साहस किसी तरह भी नहीं होता कि समुद्र के जल में नमकीन न रहना ही अच्छा होता। अवश्य ही अच्छा नहीं होता, शायद नमकीन जल के अभाव से समूची पृथ्वी सड़ जाती।

उसीप्रकार पर निन्दा यदि समाज के कण-कण में मिली हुई नहीं रहती तो अवश्य ही एक बड़े प्रकार का अनिष्ट हो जाता। वह नमक की ही तरह समस्त संसार को विकारों से रक्षा कर रही है।

पाठक कहेंगे—'मैं समझ गया। तुम जो बात कहना चाहते हो, वह अत्यन्त पुरानी बात है। अर्थात् निन्दा के भय से समाज अपनी स्वाभाविक स्थिति में पड़ा हुआ है।'

यह बात यदि पुरानी हो तो यह आनन्द का विषय है। मैं तो कह चुका हूँ जो पुरातन है वह विश्वास करने योग्य है।

वस्तुतः निन्दा के न रहने से पृथ्वी में जीवन का क्या गौरव रहता है? कोई एक अच्छा काम मैंने हाथ में ले लिया, और उसकी निन्दा यदि कोई नहीं करता—उस अच्छे काम का मूल्य क्या है? किसी अच्छे विषय पर मैंने कुछ लिखा है, उसका निन्दक कोई नहीं है—अच्छे ग्रन्थ के लिए ऐसा मर्मान्तक अनादर और क्या हो सकता है? अपने जीवन को मैंने धर्मचर्चा में उत्सर्ग कर दिया, यदि किसी मनुष्य ने उसमें गूढ़ बुरा अभिप्राय नहीं देखा तो समझ लीजिये साधुता अतिशय सहज साध्य हो गयी।

महत्व को, पग-पग पर निन्दा का काँटा रौंदकर चलना पड़ता है। इससे जो हार मान लेता है, वह वीर की सद्गति नहीं प्राप्त करता। पृथ्वी में निन्दा, दोषों का सुधार करने के ही लिए है, ऐसी कोई बात नहीं है, महत्व को गौरव प्रदान करना उसका एक बड़ा काम है।

निन्दा-विरोध शरीर पर आघात नहीं पहुँचाता, ऐसी बात कोई सहृदय

मनुष्य तो नहीं कह सकता। जिसका हृदय बड़ा है उसमें व्यथा पाने की शक्ति भी बड़ी है। जिसके पास हृदय है, संसार में वही मनुष्य करने योग्य काम में हाथ लगाता है। फिर मनुष्य की तरह मनुष्य को देखते ही निन्दा की धारा चार गुनी तेज हो उठती है। इसी से यह बात दिखाई पड़ती है कि, विधाता ने जहाँ अधिक अधिकार दिया है वहाँ ही दुःख और परीक्षा को अत्यन्त कठिन बना दिया है। विधाता के उसी विधान को विजय मिले यही हमारी कामना है। हम चाहते कि निन्दा, दुःख, विरोध, भले लोगों, गुणवान् लोगों के भाग्य में ही अधिक परिमाण में जुट जाँय। जो यथार्थ रूप से व्यथा भोग करना जानता है उसको ही व्यथा मिले। अयोग्य तुच्छ व्यक्ति के ऊपर निन्दावेदना का अनावश्यक अपव्यय न होने पावे।

सरल हृदय पाठक फिर यही कहेंगे—'मैं जानता हूँ कि निन्दा के द्वारा उपकार होता है। जो मनुष्य अपराध या भूलें करता है उसके दोषों की घोषणा करना अच्छा काम है, किन्तु जो नहीं करता उसकी निन्दा से तो संसार की भरपाई हो ही नहीं सकती।'

ऐसी बात होने से तो निन्दा टिक नहीं सकती। प्रमाण लेकर दोषी को दोषी सिद्ध करना तो विचार करना हो गया। यह भारी बोझ कितने आदमी उठा सकते हैं और इतना समय भी किसके पास है। इसके सिवा दूसरे के सम्बन्ध में इतनी अतिरिक्त मात्रा में किसी को जरूरत नहीं है। यदि रहती, तो दूसरे के लिए वह बिलकुल ही असह्य हो जाती। निन्दक को सहा जा सकता है, क्योंकि, उसकी निन्दुकता की निन्दा करने का सुख मेरे भी हाथ में है, किन्तु विचारक को सहेगा कौन!

वस्तुतः हमलोग अति साधारण प्रमाण मिलने से ही निन्दा करने लगते हैं, निन्दा का यह हलकापन न रहने से समाज की हड्डी चूर हो जाती। निन्दा की राय चूड़ान्त राय नहीं है। निन्दित व्यक्ति इच्छा करने से ही, उसका प्रतिवाद नहीं भी कर सकता है। यहाँ तक कि निन्दा वचन

को हँसकर उड़ा देना ही सुबुद्धि में परिगणित है। किन्तु निन्दा यदि विचारक की राय होती, तो उस हालत में सुबुद्धि को वकील-मुख्तारों की शरण लेनी पड़ती। जो लोग जानते हैं, वे स्वीकार करेंगे कि वकील-मुख्तारों के साथ व्यवहार करना कोई हँसी खेल की बात नहीं है। इसलिए हम देखते हैं कि, संसार की आवश्यकता के हिसाब से निन्दा का जितना भारीपन जरूरी है, वह भी मौजूद है, जिस परिभाषा में हलकापन रहना उचित है उसका भी अभाव नहीं है।

पहले जो पाठक मेरी बात सुनकर असहिष्णु हो उठे थे, वे अवश्य ही कहेंगे—तुच्छ अनुमान पर निर्भर करके हो या निश्चित प्रमाण के ऊपर निर्भर करके हो, यदि निन्दा करने की जरूरत पड़ ही जाय तो व्यथा के साथ करना ठीक है, निन्दा से सुख पाना उचित नहीं है।'

ऐसी बात जो कहेंगे वे अवश्य ही सहृदय व्यक्ति होंगे। इसलिए उनको विचार करके देख लेना चाहिये—निन्दा से निन्दित व्यक्ति व्यथा पाता है, फिर निन्दुक भी यदि वेदना अनुभव करे, तो संसार में दुःख वेदना का परिमाण किस तरह अपरिमित रूप से बढ़ जाता है! ऐसा होने से निमन्त्रण-सभा निस्तब्ध रहती, मित्र-सभा विषाद से म्रियमाण हो जाती; समालोचकों की आँखें अश्रुपूर्ण हो जातीं, और उनके पाठकवर्ग के हृदयगह्वर से उष्ण दीर्घ श्वास बार-बार उच्छ्वसित होती रहती। मुझे आशा है, शनिग्रह में जो लोग रहते हैं उनकी भी ऐसी दशा न होगी।

इसके अतिरिक्त सुख भी न मिलेगा और निन्दा करना भी जारी रहेगा, ऐसा भयंकर निन्दुक मनुष्य जाती भी नहीं है। विधाता ने मनुष्य को इतना शौकीन बनाकर तैयार किया है, कि जिस समय वह अपना पेट भरकर प्राणरक्षा करने के लिए जाने लगता है, उस समय भी क्षुधा निवृत्ति और रुचि-परितृप्ति का जो सुख है वह भी उसे मिलाना चाहिये—वही मनुष्य ट्राम भाड़ा करके मित्र के घर जाकर पर निन्दा कर आवेगा

फिर भी उसका सुख न पावेगा, ऐसी असम्भव बात की आशा जो धर्म-नीति करती है वह पूजनीय है, किन्तु पालनीय नहीं है।

आविष्कार मात्र में ही सुख का अंश रहता है। शिकार जरा भी सुखदायक नहीं होता, यदि हरिण जहाँ तहाँ सर्वत्र मिलता रहता और व्याध को देखकर वह भागता नहीं। मृगों के ऊपर हम आक्रोश रखते हैं, इसी कारण उन्हें मारते हैं ऐसी कोई बात नहीं है, वह बेचारा गहन वन में रहता है और वह पालायन-निपुण है इसीलिए उसको मारना पड़ता है।

मनुष्य का चरित्र, विशेषतः उसके दोष झोपड़ियों में ही रहते हैं और पैरों की आहट सुनते ही वे दौड़ लगाना चाहते है, इसी कारण निन्दा में इतना सुख है। मैं नाड़ी-नस की जानकारी रखता हूँ, मेरे लिए कुछ भी छिपा नहीं है, यह बात निन्दुक के मुख से सुनते ही समझ लिया जाता है कि वह जन्मगत शिकारी है। तुम अपने जिस अंश को दिखलाना नहीं चाहते, उसी को मैंने पता लगाकर पकड़ लिया है। जब की मछली को मैं बंसी डालकर पकड़ता हूँ, आकाश की चिड़िया को बाण मारकर गिरा देता हूँ, वन के पशु को जाल फैलाकर बाँध लेता हूँ—यह कितना सुखदायक है। जो छिपा रास्ता है उसको निकाल लाना, जो भागता है उसको बाँध लेना, इसके लिए मनुष्य क्या नहीं करता।

दुर्लभता के प्रति मनुष्य को एक मोह रहता है। वह समझता है जो सुलभ है, वह विशुद्ध नहीं है, जो ऊपर है वह आवरण मात्र है, जो छिपा हुआ है वही असल है, इसीलिए गुप्त का परिचय पाने पर वह और किसी बात का विचार न करके 'मैं यथार्थ का परिचय पा गया' कहकर हठात् खुश हो उठता है। यह बात वह ख्याल में नहीं लाता कि, ऊपर के सत्य की अपेक्षा नीचे का सत्य कोई अधिक सत्य नहीं है। यह बात उसे समझा देना कठिन है कि, सत्य यदि बाहर रहे तो उस हालत में भी वह सत्य, और जो भीतर है वह यदि सत्य न हो तो वह असत्य ही है। इसी मोहवश काव्य के सरल सौन्दर्य की अपेक्षा उसके गम्भीर

तत्व को पाठक पसन्द करता है, और विश्व निशाचर पाप को, प्रकाशचर साधुता की अपेक्षा अधिक यथार्थ मानकर उसका गुरुत्व अनुभव करता है। इसीलिए मनुष्य की निन्दा सुनते ही मन में विचार उठ जाता है कि उसका यथार्थ परिचय मिल गया। संसार में बहुत थोड़े लोगों के ही साथ मुझे घर-गृहस्थी चलानी पड़ती है, सैकड़ों की संख्या में इतने लोगों का यथार्थ परिचय लेने से मुझे क्या लाभ है? किन्तु यथार्थ परिचय के लिए व्यग्रता मनुष्य का स्वभाव-सिद्ध धर्म है, वह मनुष्यत्व का प्रधान अंग है—इसलिए उसके साथ विवाद करना ठीक नहीं है। केवल जब दुःख उठाने का दीर्घ अवकाश मिल जाता है तब मैं यही सोचता हूँ कि जो सुन्दर है, जो सम्पूर्ण है, जो फूल की तरह बाहर विकसित होकर प्रकट होता है, वह बाहर आ जाता है। इसीलिए बुद्धिमान मनुष्य धोखा खाने के भय से उसके ऊपर विश्वास करके उसमें पूरा आनन्द भोग करने का साहस नहीं करता। धोखा खाना ही संसार में चरम धोखा खाना है? धोखा न खाना ही क्या चरम लाभ है?

किन्तु, इन सब विषयों का भार मेरे ऊपर नहीं है। मेरा जन्म होने के बहुत पहले ही मनुष्य चरित्र का निर्माण हो चुका था। मैं केवल यही समझने और समझाने की चेष्टा में था कि साधारणतः मनुष्य निन्दा करने से मनुष्य को जो सुख मिलता है, वह विद्वेष का सुख नहीं है। विद्वेष कभी साधारण रीति से सुखदायक नहीं हो सकता और विद्वेष समस्त समाज के स्तर-स्तर में यदि फैल जाय तो उस विष को हजम करना समाज के लिए असाध्य हो जायगा। हमलोगों ने बहुत से भले और निरीह लोगों को भी निन्दा करते हुए सुना है, उसका कारण ऐसा नहीं है कि संसार में भले और निरीह मनुष्य नहीं हैं, इसका कारण यह है कि, साधारणतः निन्दा का मूल स्रोत कुभाव नहीं है।

किन्तु, विद्वेषमूलक निन्दा संसार में बिलकुल ही नहीं है, यह बात लिखना चाहूँगा तो सत्य युग के लिये प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। किन्तु उस

निन्दा के सम्बन्ध में अधिक बातें करने की नहीं है। केवल प्रार्थना यह है कि ऐसी निन्दा जिसके लिए स्वभाव सिद्ध सी हो गयी है, उस अभागे पर मैं दया कर सकूँ।

रंग-मञ्च

भारत के नाट्य-शास्त्र में नाट्य मञ्च का वर्णन मिलता है। उसमें दृश्य-पट का कोई उल्लेख मुझे नहीं दिखाई पड़ता। उससे कोई विशेष हानि हुई थी, ऐसी धारणा मेरी नहीं है।

कला-विद्या जहाँ एकेश्वरी है, वहाँ ही उसका पूर्ण गौरव है। सौत के साथ घर-गृहस्थी चलाने में उसको तुच्छ पद ही स्वीकार करना पड़ेगा। विशेषतः, जब कि वह सौत प्रबल हो। रामायणपाठ करते समय यदि सुर बाँधकर उसे पढ़ना पड़े तो आदि काण्ड से लेकर उत्तर काण्ड तक उस सुर को चिरकाल एक ही रूप धारण कर लेना पड़ेगा; रागिनी के हिसाब से उस बेचारे की किसी दिन पदोन्नति नहीं होती। जो काव्य उच्च कोटि का है वह अपनी संगीत की व्यवस्था अपने ही नियमों से कर लेता है; वह बाहर के संगीत की सहायता की अवज्ञा के साथ उपेक्षा करता है। जो उच्च कोटि का संगीत है, वह अपनी बात अपने ही नियमों से कहता है, बातों के लिए कालिदास-मिल्टन के मुख की ओर ताकता हुआ अपेक्षा नहीं करता—वह नितान्त तुच्छ तोम्-ताना-नाना को ही लेकर उत्तम काम चलाता रहता है। चित्रों में, गानों में, बातों में मिलावट करके ललित कला का एक सर्वजनोपयोगी स्वरूप बनाया जा सकता है; किन्तु, वह कुछ अंशों में प्रमोद के रूप में, बाजारू चीज हो जायगी, राजकीय उत्सव ऊँचा आसन उसे नहीं दिया जा सकता।

किन्तु श्रव्य-काव्य की अपेक्षा, दृश्य काव्य स्वभावतः ही कुछ अंशों में पराधीन है। बाहर की सहायता से ही अपने को सार्थक बना देने के लिए वह विशेष रूप से बना है, वह अभिनय के लिए प्रतीक्षा कर रहा है, यह बात उसे स्वीकार करनी ही पड़ती है।

हमलोग इस उक्ति को स्वीकार नहीं करते। पतिव्रता स्त्री पति के अतिरिक्त और किसी को नहीं चाहती, अच्छा काव्य उसी तरह भावुक के सिवा और किसी की अपेक्षा नहीं रखता। साहित्य पाठ करते समय हम सभी मन-ही-मन अभिनय करते रहते हैं। उस अभिनय में जिस काव्य का सौन्दर्य नहीं खुलता, उस काव्य ने किसी कवि को यशस्वी नहीं बनाया है।

बरञ्च यह बात कह सकते हो कि, अभिनय-विद्या नितान्त पराश्रिता है। वह अनाथा नाटक के लिए राह जोहती हुई बैठी रहती है। नाटक का गौरव अवलम्बन करके ही वह अपना गौरव दिखा सकती है।

स्त्री के वश में रहनेवाला पति जिस तरह लोगों से उपहास पाता है, उसी तरह, यदि नाटक अभिनय की अपेक्षा करता हुआ अपने-आपको विभिन्न रूपों से तुच्छ बना दे, तो वह भी उसी तरह उपहास योग्य हो उठता है। नाटक का भाव इस तरह होना चाहिये कि, "मेरा यदि अभिनय होता हो तो भले ही हो, नहीं होता तो अभिनय का भाग्य फूट चुका—मेरी कोई भी हानि नहीं है।"

जो भी हो, अभिनय को काव्य की अधीनता स्वीकार करनी ही पड़ती है। किन्तु इसी कारण सभी कला-विद्याओं की ही गुलामी उसे करनी पड़ेगी, ऐसी कोई बात नहीं है। यदि वह अपना गौरव रखना चाहता हो, तो आत्म-प्रकाश के लिए जितनी अधीनता उसे न मिलने से काम रुक जाता हो, उतनी को ही उसे ग्रहण कर लेना चाहिये। उससे अधिक की इच्छा रखने से, उसकी अपनी ही अप्रतिष्ठा होती है।

यह बताना अनावश्यक है कि, नाटक में जो बातें कही जाती हैं, वे अभिनेता के लिए नितान्त आवश्यक होती हैं। कवि उनके लिए जो हँसने योग्य बातें जुटा देते हैं, उनको ही लेकर उसे हँसना पड़ता है; कवि उसको जिस रुलाई का अवसर देते हैं, उसको ही लेकर रोता हुआ वह दर्शक की आँखों में आँसू खींच लाता है। किन्तु चित्र किसलिए है?

वह अभिनेता के पीछे झूलता रहता है, अभिनेता उसको उत्पन्न नहीं करता, वह तो केवल अंकित ही करता है। मेरे मत से उसके द्वारा अभिनेता की असमर्थता, उसकी कापुरुषता प्रकट होती है। इस रीति से जिस उपाय के सहारे वह दर्शकों के मन में विभ्रम उत्पन्न करके अपने काम को सहज बना देता है, वह चित्रकार के पास से भीख माँग लाना ही है।

इसके अतिरिक्त जो दर्शक तुम्हारा अभिनय देखने आया है, उसके पास क्या अपना सम्बल एक पैसा भी नहीं है? वह क्या बच्चा है? विश्वास करके उसके ऊपर क्या किसी भी विषय के लिए निर्भर करने का उपाय नहीं है। यदि यह सच हो, तो डबल दाम देने पर भी ऐसे लोगों के हाथ टिकट न बेचना चाहिये।

यह तो अदालत के सामने गवाही देना नहीं है कि, प्रत्येक बात को हलफ के द्वारा सिद्ध करना पड़ेगा। जो लोग विश्वास करने के लिए, आनन्द-खुशी मनाने के लिए आये हैं, उनको इतना वंचित करने का आयोजन क्यों? वे अपनी कल्पना-शक्ति को अपने घर में बन्द कर उसके दरवाजे पर ताला लगाकर नहीं आये हैं। कुछ-कुछ तुम समझाओगे, कुछ-कुछ वे खुद समझेंगे, तुम्हारे साथ उनका ऐसा ही पारस्परिक संबंध है।

दुष्यन्त, पेड़ के तने की आड़ में खड़े होकर सखियों के साथहोनेवाली शकुन्तला की बातचीत सुन रहे हैं। अति उत्तम बात है। वार्तालाप को विशेष रस से जमा कर कह जाओ। पेड़ का समूचा तना मेरे सामने उपस्थित रहने पर भी, उसको मैं मन में धारण कर सकता हूँ, इतनी सृजन-शक्ति मुझमें है। दुष्यन्त, शकुन्तला, अनुसूया, प्रियंवदा के चरित्रानुरूप प्रत्येक हावभाव और कंठस्वर की प्रत्येक भंगी को प्रत्यक्षवत् अनुमान में ले आना कठिन है—इस कारण उनको जब हम प्रत्यक्ष वर्तमान देख पाते हैं, तब हृदय रस से अभिषिक्त हो जाता है; किन्तु दो वृक्षों को, या एक मकान या एक नदी को कल्पना में ले आना ज़रा भी कठिन नहीं है।

उसको भी हमारे हाथ में न रखकर चित्र के द्वारा उपस्थित करें। से हमारे ऊपर घोरतर अविश्वास करना होता है।

इसी कारण मुझे अपने देश का धार्मिक अभिनय अच्छा लगता है। इस धार्मिक लीला के अभिनय में दर्शकों और अभिनेताओं में कोई भारी व्यवधान नहीं रहता। परस्पर के विश्वास और अनुकूलता के ऊपर निर्भर करके वह कार्य विशेष सहृदयता के साथ सुसम्पन्न हो उठता है। काव्यरस; जो असल चीज है, वही अभिनय की सहायता से फव्वारे की तरह चारों तरफ दर्शकों के पुलकित चित्त के ऊपर छिटक पड़ता है। मालिन जब अपने बगीचे में फूल ढूँढती हुई देर कर रही है, तब उसको प्रमाणित करने के लिए, सबके सामने समूचा-समूचा पेड़ ला रखने की क्या आवश्यकता है। अकेली मालिन में ही समूचा बगीचा आप ही जाग उठता है। यही यदि न होगा तो, मालिनी में भी कौन सा गुण रहा, और दर्शक लोग भी काठ की मूर्ति की तरह क्या करने के लिए बैठे हुए हैं।

शकुन्तला के कवि को यदि रङ्ग-मंच पर दृश्य-पट के विषय में सोचना पड़ता तो, वे प्रारम्भ में ही मृग के पीछे-पीछे रथ दौड़ाना बन्द कर देते। अवश्य ही ये बड़े कवि, रथ के बन्द हो जाने से ही उनकी कलम भी बन्द हो जाती, ऐसी कोई बात नहीं है। किन्तु मैं कह रहा हूँ, जो तुच्छ है उसके लिए, जो बड़ा है वह क्यों अपने आपको किसी अंश में छोटा बनाने जायगा। भावुक के चित्त के अन्दर रङ्ग-मंच विद्यमान है, उस रङ्ग-मंच पर स्थानाभाव नहीं है। वहाँ जादूगर के हाथ से दृश्यपट आप ही आप बनता रहता है। वही मंच, वही पट ही नाट्यकार का लक्ष्य स्थल है, कोई कृत्रिम मंच और कृत्रिम पट कविकल्पना के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता।

इस कारण जब दुष्यन्त और सारथि एक ही स्थान में स्थिर खड़े होकर वर्णना और अभिनय के द्वारा रथवेग की आलोचना करते हैं, वहाँ दर्शक इस अति सामान्य बात को अनायास ही समझ जाते हैं कि, मञ्च

छोटा है। किन्तु काव्य छोटा नहीं है। इस कारण काव्य के प्रति प्रेमवश इस अनिवार्य त्रुटि को वे लोग प्रसन्नचित्त से क्षमा कर देते हैं और अपने चित्त-क्षेत्र को उस छोटे से आयतन के बीच प्रसारित करके उस मञ्च को ही महत्वपूर्ण बना देते हैं। किन्तु मञ्च के प्रति स्नेह रहने से काव्य को यदि निकृष्ट हो जाना पड़ता तो उन इने-गिने कुछ काठ के टुकड़ों को कौन नाप सकता था।

शकुन्तला नाटक ने, बाहर के चित्रपट के लिए किसी तरह की अपेक्षा नहीं रखी है, इसी कारण उसने अपने चित्रपटों को आप ही तैयार कर लिया है। अपने कण्डवाश्रम, अपने स्वर्गपथ के मेघ लोक, अपने मारीच के तपोवन के लिए, उसने और किसी के ऊपर भार नहीं छोड़ा है। उसने अपने को आपही सम्पूर्ण कर डाला है। चाहे चरित्र सृजन में हो, चाहे स्वभाव चित्र में हो, अपनी काव्य-सम्पदा के ही ऊपर वह एकमात्र भरोसा रखता है।

हम दूसरे प्रबन्ध में बता चुके हैं, यूरोपीय लोगों का काम यथार्थ सत्य के बिना नहीं चलता। कल्पना के बल उन लोगों का चित्तरंजन होता है ऐसी बात नहीं है। वह काल्पनिक को अविकल वास्तविक की तरह बना कर, उनको बालकों की तरह फुसला लेती है। केवल काव्यरस की प्राण-दायिनी विशल्य-करणी मात्र होने से काम न चलेगा, उसके साथ वास्त-विकता की समूची गन्ध मादकता भी चाहिये। अब है कलियुग, इसलिए गन्धमान को खींच लाने के लिए इंजीनियरिंग की जरूरत है। इसमें खर्च भी साधारण नहीं है। विलायत के स्टेज पर केवल इसी खेल के लिए जो फजूल खर्च हो जाता है, उस खर्च से भारतवर्ष के आकाश में कितने ही दुर्भिक्ष डूब जा सकते हैं।

प्राच्य देश के क्रिया-कर्म, खेल आनन्द सभी सरल-सहज हैं। केले के पत्तों पर हमलोगों का भोज सम्पन्न होता है, इसीलिए, भोज का जो सर्वापेक्षा सच्चा आनन्द है, अर्थात् विश्व को बेरोकटोक अपने ही घर में

निमंत्रित कर लाना; सम्भव हो जाता है। आयोजन का भार यदि जटिल और अतिरिक्त होता, तो उस हालत में असल चीज ही नष्ट हो जाती।

विलायत के अनुकरण से हमलोगों ने जो थियेटर बनाया है वह भारा-क्रान्ता एक स्फीत पदार्थ है। उसको हिलाना कठिन है, उसको सभी नर-नारियों के दरवाजों तक ले आना दुस्साध्य है, उसमें लक्ष्मीजी का उल्लू ही, सरस्वती के कमल को प्रायः आच्छन्न किये हुए है। उसमें कवि और गुणी की प्रतिभा की अपेक्षा धनी का मूलधन अधिक रहना चाहिए। यदि दर्शक विलायती लड़कपन में दीक्षित न हुआ हो और अभिनेता को यदि अपने प्रति और काव्य के प्रति यथार्थ विश्वास रहे, तो अभिनय के चारो तरफ से उसके बहुमूल्य निरर्थक जंजालों को झाड़ू से साफकर उसे मुक्तिदान और गौरव प्रदान करने से ही सहृदय हिन्दू सन्तान का तरह काम हो जाता है। बगीचे को अविकल बगीचे के ही रूप में अंकित करके खड़ा करना होगा और स्त्री चरित्र अकृत्रिम स्त्री के ही द्वारा अभिनय कराना पड़ेगा, ऐसी अत्यन्त स्थूल विलायती बर्बरता छोड़ देने का समय आ गया है।

सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि, जटिलता असमर्थता का ही परिचय देती है। वास्तविकता यदि कीड़े की तरह आर्ट में प्रवेश कर जाय तो तेलचट्टे की तरह उसके अन्तर के समस्त रस को वह समाप्त कर देती है, और जहाँ अजीर्णता के कारण यथार्थ रस की क्षुधा का अभाव रहता है, वहाँ बहुमूल्य बाह्य प्रचुरता क्रमशः ही भयंकर रूप से बढ़ जाती है—अन्त में अन्न को पूर्णतः आच्छन्न करके चटनी का ही ढेर लग जाती है।

पन्द्रह आना

जो मनुष्य धनवान् है, उसका बगीचा उसके मकान की अपेक्षा बड़ा होता है। मकान अत्यावश्यक है, बगीचा अतिरिक्त है। सम्पत्ति की

उदारता, आवश्यकता में ही अपने आप को प्रमाणित करती है। बकरी के पास जितनी बड़ी सींग है, उसीसे उसका काम चल जाता है, किन्तु हरिण की सींग में पन्द्रह आना अनावश्यकता देखकर हमलोग मुग्ध हो रहते हैं। मोर की पूँछ ने केवल रंग की शोभा में ही विजय प्राप्त कर ली है ऐसी बात नहीं है। उसके अत्यधिक गौरव के सामने शुकसारिका, खंजन, रंगीन फतिंगे की पूँछ भी लज्जा से दिन-रात अस्थिर रहती हैं।

जिस मनुष्य ने अपने जीवन को पूर्णरूप से अत्यावश्यक बना दिया है वह आदर्श पुरुष है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता ! किन्तु सौभाग्यवश उसका आदर्श का अनुसरण बहुसंख्यक लोग नहीं करते; यदि करते तो मनुष्य समाज एक ऐसे फल की तरह हो जाता, जिसका बीज ही उसका सब कुछ रहता, गूदा बिलकुल ही नहीं रहता। जो मनुष्य केवल उपकार ही करता है, उसको अच्छा न कहने का उपाय नहीं है, किन्तु जो मनुष्य फालतू है, उसको मनुष्य प्यार करते हैं।

इसका कारण यह है कि, जो फालतू है वह परिपूर्ण रूप से अपने आपको प्रदान कर सकता है। संसार में जो उपकारी मनुष्य हैं वे केवल उपकार की संकीर्ण दृष्टि से ही हम लोगों के एक अंश को स्पर्श करते हैं, वे अपनी उपकारिता की बड़ी दीवारों के द्वारा ही अन्य सभी दिशाओं से घिरे हुए हैं, केवल एक दरवाजा खुला हुआ है—वहाँ हम हाथ पसारते हैं, वे दान करते हैं। और हम लोगों का वह फालतू मनुष्य तो हमारा साथी मात्र है। उपकारी मनुष्य के यहाँ से हम उपार्जन कर लाते हैं, और फालतू मनुष्य के साथ मिलकर हम खर्च करते हैं। जो खर्च करने में हमारा साथ देता है वही हमारा मित्र है।

विधाता की कृपा से हरिण के सींग और मोर की पूँछ की तरह संसार में हममें से अधिकांश मनुष्य ही फालतू हैं, हममें से अधिकांश का ही जीवन-चरित्र लिखने लायक नहीं है, और सौभाग्यवश हममें से अधिकांश लोगों की ही ऐसी अवस्था है कि मृत्यु के बाद, पत्थर की मूर्ति

तैयार करने की निष्फल चेष्टा में चन्दे का खाता लेकर दर-दर भीख मांगते फिरने की जरूरत पड़ेगी।

ऐसे मनुष्यों की संख्या अति अल्प ही है, जो मृत्यु के पश्चात् अमरता प्राप्त कर सकेंगे। ट्रेन के सभी डिब्बे यदि रिजर्व रहते तो साधारण यात्रियों की कैसी दशा होती! एक तो जितने बड़े आदमी हैं उनमें से, प्रत्येक अकेले ही एक सौ के समान हैं, अर्थात् वे जितने दिन जीवित रहते हैं, उतने दिन कम से-कम अपने भक्तों और निन्दकों के हृदय-क्षेत्र में शताधिक लोगों का स्थान छेके रहते हैं—मृत्यु के बाद भी वे जगह नहीं छोड़ते। छोड़ने की बात तो दूर रही, बहुतेरे मरने का सुयोग लेकर अधिकार विस्तार किया करते हैं। हमारे लिए एकमात्र अन्याय का जरिया यही है कि, इन लोगों की संख्या अल्प है। नहीं तो, केवल समाधिस्तम्भों के कारण साधारण जनता के लिए झोपड़ी बनाने की भी जगह नहीं मिलती। यह पृथ्वी इतनी संकीर्ण है कि, जीवित मनुष्य के साथ जीवित मनुष्यों को थोड़ी-सी जगह के लिए लड़ाई करनी पड़ती है। चाहे जमीन के ही ऊपर अधिकार करने की नीयत से हो या हृदय के ही ऊपर प्रभाव रखने के निमित्त हो, दूसरे पाँच आदमियों की अपेक्षा कुछ विस्तृत अधिकार पाने के लिए बहुतेरे ही लोग जालसाजी-फरेब करके लोक और परलोक दोनों ही खो देने को तैयार रहते हैं। जीवित मनुष्य के साथ जीवित मनुष्य की जो लड़ाई चलती है, वह समकक्षों की लड़ाई है, किन्तु मृत व्यक्ति के साथ जीवित मनुष्य की लड़ाई बहुत ही कठिन है। वे लोग अब सभी दुर्बलताओं और सभी खण्डताओं के अतीत हैं, कल्प लोक विहारी हैं। हम लोग मध्याकर्षण कैशिकाकर्षण और बहुत प्रकार के आकर्षण-विकर्षणों के द्वारा पीड़ित मर्त्यलोक के मनुष्य हैं, हम उनसे कैसे पार पा सकेंगे। इसी कारण विधाता अधिकांश मृतकों को ही विस्मृत के लोक में निर्वासित कर देते हैं—वहाँ किसी को स्थानाभाव नहीं रहता। विधाता यदि बड़े-बड़े मृतों के सम्मान में, हमलोगों की तरह छोटे-छोटे जीवित

मनुष्यों को अत्यन्त विमर्ष, मलिन और एकदम कोने में पड़े रहने के योग्य बना देवे, तो यह कहना पड़ेगा कि इस पृथ्वी को ऐसा सुन्दर, उज्ज्वल क्यों बना दिया, मनुष्य का हृदय मनुष्य के लिये ऐसा अत्यन्त लोभनीय कैसे हो गया ? नीतिज्ञ लोग हम लोगों की निन्दा करते हैं। वे कहते हैं, हमारा जीवन व्यर्थ बीत गया। वे हमें झिड़ककर कह रहे हैं— 'उठो, जागो, काम करो समय नष्ट मत करो।'

काम न करके बहुत से लोग समय नष्ट करते हैं, इसमें सन्देह नहीं है. किन्तु काम करके जो लोग समय नष्ट करते हैं, वे काम भी नष्ट करते है, समय भी नष्ट करते हैं। उनके पैरों के भार से पृथ्वी काँप उठती है और उनकी ही सचेष्टता के हाथ से असहाय संसार की रक्षा करने के लिए भगवान् ने कहा है— 'सम्भवामि युगे युगे।'

जीवन व्यर्थ चला गया। व्यर्थ चले जाने दो। अधिकांश जीवन ही व्यर्थ हो जाने के लिए हुए हैं। पन्द्रह आना अनावश्यक जीवन ही विधाता का ऐश्वर्य प्रमाणित कर रहे है। उनके जीवन-भंडार में तो दैन्य नहीं है, इसके असंख्य साक्षी व्यर्थप्राण हमी लोग हैं। अपनी अनन्त अधिकता, अपना अकारण बाहुल्य देखकर, विधाता की महिमा स्मरण करो। बाँसुरी जिस तरह अपनी शून्यता के भीतर से संगीत प्रचार करती है उसी तरह संसार के पन्द्रह आना मनुष्य अपनी व्यर्थता के द्वारा विधाता के गौरव की घोषणा कर रहे हैं। बुद्ध ने हमारे लिए संसार त्याग दिया था। ईसा-मसीह ने हमारे ही लिए प्राण दिए, ऋषियों ने हमारे ही लिए तपस्या की, और साधू लोग हमारे ही लिए जाग्रत रहते हैं।

जीवन व्यर्थ चला गया। चले जाने दो। क्योंकि जाना ही चाहिए। जाना ही एक सार्थकता है। नदी बहती जा रही है—उसका सब जल ही हम स्नान करने, पीने और धान के खेतों की सिंचाई में खर्च नहीं करते। उसका अधिकांश जल ही केवल प्रवाह की रक्षा कर रहा है। और कोई काम न करके केवल प्रवाह रक्षा करने में एक बृहत् सार्थकता है। उसका

जो जल नहर काटकर हम पोखरी में ले आते हैं, उससे स्नान करने क काम चल सकता है, किन्तु उसको हम पीते नहीं हैं। उसका जो जल घड़े में भर लाने पर हम सुराही में भर रखते हैं उसको हम पी सकते हैं, किन्तु उसके ऊपर प्रकाश-छाया का उत्सव नहीं होता। उपकार को ही एकमात्र सफलता मान लेना दीनता का परिचय देना है।

हम पन्द्रह आना मनुष्य हैं, हम अपने आप को तुच्छ समझते रहें यह ठीक नहीं है। संसार की गति हम ही हैं। पृथ्वी में मनुष्यों के हृदय में हमारा जीवनस्वत्व है। हम किसी पर आसक्ति नहीं रखते, किसीको जकड़े नहीं रहते, हम चले जाते हैं। संसार के समस्त मधुर गान हमारे द्वारा ध्वनित होते हैं। समस्त छायालोक हमारे ही ऊपर स्पन्दमान हैं। हम हँसते हैं, रोते हैं, प्यार करते हैं, मित्रों के साथ अकारण खेलते हैं, स्वजनों के साथ अनावश्यक वार्तालाप करते हैं, दिन का अधिकांश समय ही चारो तरफ के लोगों के साथ उद्देश्यहीन भाव से बिता देते हैं। उसके बाद धूमधाम के साथ हम लड़के का ब्याह करते हैं, उसे आफिस में नौकरी दिलाते हैं, संसार में कोई यश उपार्जन किये बिना मर जाते हैं और जल-कर भस्म हो जाते हैं—हम विपुल संसार की विचित्र तरंगलीला के अंक हैं; हमारे छोटे-मोटे हँसी कौतुक का समस्त जन-प्रवाह चमक-दमक रहा है, हमारे छोटे-मोटे आलाप-विलापों से समस्त समाज मुखरित हो रहा है।

हमलोग जिसको कार्य कहते हैं, प्रकृति में अधिकांश ही वही है। सूर्य-किरणों का अधिकांश भाग शून्य में ही बिखर जाता है, वृक्षों के मुकुलों में अति अल्प ही फल लगने तक टिकते हैं। किन्तु वह मुकुल जिनका धन है, वे ही इसका अर्थ समझेंगे। वह व्यय, अपव्यय है या नहीं, इसका विचार विश्वकर्मा के हिसाब का खाता देखे बिना हम नहीं समझ सकते। उसी प्रकार हमलोगों में से अधिकांश ही परस्पर को सञ्ज-दान और गतिदान देने के सिवा और किसी भी काम में नहीं लगते। इसलिए अपने आपको और दूसरों को कोई दोष देना ठीक नहीं है। हम

छटपटाहट के बिना प्रफुल्ल हास्य से और प्रसन्न गान से यदि सहज ही में अप्रसिद्ध अवसान में शान्ति प्राप्त कर लें, उस उद्देश्य हीनता के ही बीच हम यथार्थ भाव से जीवन का उद्देश्य सुसम्पन्न कर सकेंगे।

विधाता ने यदि मुझे निकम्मा ही बना दिया हो, तो मैं धन्य हूँ; किन्तु यदि उपदेश के उकसाने से मैं समझ लूँ कि, मुझे उपकार करना ही पड़ेगा, कामों में लग जाना ही पड़ेगा, तो उस हालत में हममें जो विकट व्यर्थता उत्पन्न होगी, उसके उत्पादक हम ही माने जायेंगे। उसकी जवाबदेही हमें ही देनी पड़ेगी। सभी लोगों का जन्म परोपकार करने के ही लिए नहीं हुआ है, इस कारण उपकार करने में लज्जा की कोई बात नहीं है। मिशनरी बनकर यदि मैं चीन का उद्धार करने न चला जाऊँ तो कोई हर्ज नहीं। अपने गाँव-घर में रहकर सियार का शिकार करने और घुड़दौड़ में जुआ खेलने में समय बिता देने को यदि व्यर्थता कहते हो, तो यह काम चीन का उद्धार करने की चेष्टा की भाँति रोमाञ्चकारी, घोर व्यर्थता नहीं मानी जा सकती।

सभी घास धान नहीं हैं। इस पृथ्वी में प्रायः सब ही घास है, धान थोड़े ही हैं। किन्तु घास को अपनी स्वाभाविक निष्फलता के लिए विलाप करने की जरूरत नहीं है। उसको स्मरण रखना चाहिये कि, वह अपनी श्यामलता के द्वारा सूखी धूल आच्छन्न कर रही है, धूप के उत्ताप को वह अपनी चिरप्रसन्न स्निग्धता के द्वारा कोमल बनाती जा रही है। सम्भवतः घास जातियों में एक घास है, जो कुश नाम से प्रसिद्ध है। उसने कभी अपने शारीरिक बलप्रयोग से धान बन जाने की चेष्टा की थी; सम्भव है कि, साधारण घास के रूप में न रहने के लिए, दूसरों के प्रति एकान्त मनोनिवेश करके अपने जीवन को सार्थक बना रखने के लिए, उसमें बड़ी उत्तेजना उत्पन्न हो गयी थी, तो भी वह कुश धान न बन सका। किन्तु सर्वदा दूसरे के प्रति अपना तीक्ष्ण लक्ष्य निविष्ट करने की उसकी एकाग्र चेष्टा कैसी है, उसको दूसरे ही समझ रहे हैं। सारांश रूप से यह

बात कही जा सकती है कि ऐसी उग्र परपरायणता विधाता को अभिप्रेत नहीं है। साधारण तृण की ख्यातिहीन विनम्र कोमल निष्फलता ही इसकी अपेक्षा कहीं अच्छी है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि, मनुष्य दो श्रेणियों में विभक्त है—पन्द्रह आना और बाकी एक आना। पन्द्रह आना शान्त है और एक आना अशान्त है। पन्द्रह आना अनावश्यक है और एक आना आवश्यक है। हवा में आक्सिजन का परिमाण अल्प है, स्थिर शान्त नाइट्रोजन ही बहुत है। यदि इसका उलटा होता, तो यह पृथ्वी जलकर खाक हो जाती। उसी तरह संसार में जब कोई एक दल पन्द्रह आना, एक आना की ही तरह अशान्त और आवश्यक हो उठने की तैयारी करता है, तब जगत् में फिर कल्याण नहीं रह जाता, तब जिन लोगों के भाग्य में मरण है उनको मरने के लिए तैयार हो जाना पड़ता है।

वसन्त यापन

इस मैदान के उस पार शालवन की कोमल नयी पत्तियों के बीच से वसन्त की हवा बहने लगी है।

उत्पत्ति के इतिहास में मनुष्य का एक अंश तो पेड़-पौधों के साथ लिपटा हुआ है। हमारी प्रकृति में इसका यथेष्ट परिचय मिलता है कि किसी समय हमलोग शाखामृग थे। किन्तु उसके भी बहुत पहले किसी एक आदि युग में हमलोग अवश्य ही शाखी (वृक्ष) थे, इसे क्या हम भूल सके हैं। उस आदिकाल के जनहीन मध्याह्न में हमारी डाल-पत्तियों के बीच जब वसन्त की हवा किसी को भी कोई खबर न देकर हठात् हनहनाती हुई आ जाती थी, तब क्या हम प्रबन्ध लिखने लगते थे, या देश का उपकार करने के लिए निकल पड़ते थे! उस समय हम लोग सारा दिन गूँगे की तरह खड़े रहकर मूढ़ की तरह काँपने लगते थे, हमारे सर्वाङ्ग में झरझर मरमर करके पागल की तरह गान होने लगता था,

हमारी जड़ों से आरम्भ करके प्रशाखाओं की नरम फुनगियों तक, समूचा भाग रसप्रवाह के भीतर ही भीतर चञ्चल हो उठता था। उस आदिम-काल के फागुन-चैत इसी प्रकार रस से परिपूर्ण आलस्य मे और अर्थ-हीन प्रलाप में ही व्यतीत हो जाते थे। इसके लिए किसी के सामने कोई जवाबदेही नहीं थी।

यदि तुम यह कहो कि अनुताप का दिन उसके बाद आता था, वैशाख-जेठ की कड़ी धूप चुपचाप सिर पर रोप ली जाती थी, तो मैं उस बात को मान लेता हूँ। जिस दिन की जो बात है, उस दिन की उस बात को उसी प्रकार ग्रहण करना पड़ता है। सुख के दिनों में भोग का, और दुःख के दिनों में धैर्य का आश्रय यदि सहज में किया जाय, तो उससे सान्त्वना की वर्षाधारा दस दिशाओं को परिपूर्ण करके झरने लगती है। ऐसी अवस्था में हमारी शक्ति सुरक्षित हो जाती है।

किन्तु इन बातों को कहने का मेरा अभिप्राय नहीं था। लोग यह सन्देह कर सकते हैं कि, मैं रूपक का ही सहारा लेकर उपदेश दे। बैठा हूँ। सन्देह बिलकुल ही अमूलक नहीं कहा जा सकता। अभ्यास खराब हो गया है।

मैं कह रहा था कि, अभिव्यक्ति की अन्तिम पंक्ति में आ जाने के कारण मनुष्यों में अनेक विभाग हो गये हैं। जड़ भाग, उद्भिद् भाग, पशु भाग, बर्बर भाग, सभ्य भाग, देव भाग इत्यादि। इन भिन्न भिन्न भागों की एक एक विशेष जन्म ऋतु है। किस ऋतु में कौन भाग पड़ता है, इसका निर्णय करने का भार मैं न लूँगा। एक सिद्धान्त को जैसे भी हो अन्त तक ठीक प्रमाणित करने की प्रतीक्षा करने से बहुत झूठ बोलना पड़ता है। बोलने को मैं तैयार हूँ किन्तु, इतना परिश्रम आज मैं न कर सकूँगा।

आज पड़ा-पड़ा सामने ताक रहा हूँ। ताकते-ताकते जितनी ही बातें सहज ही मन में आ रही है, उसको लिखने बैठा हूँ।

बहुत दिनों तक शीतकाल रहा। उसके बाद आज मध्याह्न में मैदान से नववसन्त की हवा बहने लगी है। इसके साथ ही अपने अन्दर मनुष्य जीवन का एक भारी असामञ्जस्य अनुभव कर रहा हूँ। विपुल के साथ, समग्र के साथ, जीवन के सुर का मेल नहीं खा रहा है। शीतकाल में मेरे ऊपर संसार के जिन कामों का दायित्व था, आज भी ठीक वैसा ही दायित्व चल रहा है। ऋतुएँ भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु काम वही एक ही प्रकार का चल रहा है। ऋतु परिवर्तन से उत्पन्न परिस्थिति पर मन को विजयी बनाकर उसे अचल बना देने में मानो कई बहादुरी है, ऐसा मनोभाव बन गया है। मन बहुत प्रबल है, वह क्या नहीं कर सकता। वह दक्षिणी हवा को भी एकदम तुच्छ समझकर तीव्र वेग से दौड़कर बड़ा बाजार चला जा सकता है। वह जा सकता है यह मैं स्वीकार करता हूँ। किन्तु इसीलिए क्या वह काम उसे करना ही पड़ेगा! इससे दक्षिणी हवा अपने घर जाकर निश्चल न हो जायगी, किन्तु इसमें हानि किसकी होती!

अभी थोड़े ही दिन बीत चुके हैं, आँवले वृक्षों के मुकुल और शाल वृक्ष की डालों से पत्तियाँ बराबर झर रही थीं, परन्तु दूर से आने वाले पथिक की तरह फाल्गुन ज्योंही हमारे दरवाजे के पास आ गया और थकावट की साँस लेकर ज्योंही बैठ गया; त्योंही हमारे वृक्षों से पत्तों का झरना बन्द हो गया और रातों रात ही नूतन किसलयों का उगना प्रारम्भ हो गया।

हम मनुष्य हैं, हम अपने को ऐसी अवस्था में नहीं ला सकते। बाहर चारों तरफ ही जब कि हवा बदल रही है, पत्ते बदल रहे हैं, रंग बदल रहे हैं, तब भी हमलोग बैलगाड़ी के बैल की तरह अपने पुराने संस्कारों का बोझ अपने ऊपर लादकर ढो रहे हैं और बराबर रास्ते में धूल उड़ाते हुए चले जा रहे हैं। गाड़ीवान पहले जिस डंडे से उस बैल को ठेल रहा था, इस समय भी वही डंडा उसके हाथ में है।

मेरे पास कोई पंचाङ्ग नहीं है—अनुभव से मालूम हो रहा है कि आज फाल्गुन मास की प्रायः पन्द्रहवीं या सोलहवीं तारीख होगी। वसन्त लक्ष्मी आज षोडशी किशोरी हैं। किन्तु इस हालत में अब भी प्रति सप्ताह समाचारपत्र निकल रहे हैं। उन्हें पढ़ने से मालूम होता है कि, हमारे राजकर्मचारीगण हमारे हित के लिए कानून बनाने में बराबर व्यस्त हैं, और दूसरे पक्ष के लोग उसका ही एक-एक करके खूब बारीकी के साथ विचार करने में तत्पर हैं। किन्तु इस विशाल जगत में ये ही महत्व के काम नहीं हैं। इस काम का प्रतिपादन मलय वायु कर रही है। बड़े लाट और छोटे लाट, सम्पादक और सहकारी सम्पादकों की उत्कट व्यस्तता को कुछ भी मान्यता न देती हुई दक्षिणी समुद्र की तरङ्गोत्सव सभा से प्रति वर्ष वही चिरन्तन संवादवहन-कारिणी हवा नवजीवन का आनन्द समाचार अपने साथ लेकर, धरातल में अक्षय प्राणों का आश्वासन नये सिरे से प्रचार करने के लिये निकल पड़ती है—यह मनुष्य के लिये कोई कम महत्व की बात नहीं है, किन्तु इन सब बातों को सोचने का अवकाश हमारे पास नहीं है।

पुराने समय में बादलों की गर्जना होने से हम अनाध्याय रखते थे, वर्षा के समय प्रवासी लोग अपने घरों को वापस आ जाते थे। बादलों से घिरे दिन के समय में पढ़ाई नहीं हो सकती, या वर्षा के समय विदेश में काम करना असम्भव है, यह बात मैं नहीं कह सकता—मनुष्य स्वाधीन है, स्वतन्त्र है, मनुष्य जड़ प्रकृति के वश में नहीं है। किन्तु बल अपने पास रहने के ही कारण विपुल प्रकृति के साथ बराबर विद्रोह करके चलना पड़ेगा, ऐसी कोई बात नहीं है। मनुष्य विश्व के साथ अपनी कुटुम्बिता स्वीकार कर ले, आकाश में नवनीलाञ्जन मेघोदय के सम्मान में पढ़ना रोक दे, कामकाज बन्द कर दे, दक्षिणी हवा के प्रति कुछ श्रद्धा का भाव रखकर कानून की समालोचना करना बन्द कर दे, तो मनुष्य इस चराचर जगत् में किसी तरह का असामञ्जस्य रखकर चलने वाला न मालूम होगा।

पञ्चाङ्ग में विशेष तिथियों को भंटा, सेम, कोंहड़ा, आदि खाने का निषेध लिखा है, और भी कुछ निषेध रहना आवश्यक है—किस ऋतु में समाचार-पत्र पढ़ना अवैध है, किस ऋतु में आफिस में अनुपस्थित न रहना महा-पातक है, इसका निर्णय करने का भार अरसिक मनुष्य की ही बुद्धि पर न छोड़कर इस विषय को एकदम नियमों के बन्धन में बाँध देना शास्त्रकारों का कर्तव्य है।

हमने प्राचीन काव्यों में ही यह बात पढ़ी है कि वसन्तकाल में विर-हिणी का प्राण हाहाकार करने लगता है—अब इस युग में यह बात लिखने में हमें संकोच मालूम हो रहा है, क्योंकि यह शंका छेक लेती है, लोग हँसने लगेंगे। प्रकृति के साथ हमारे मन का जो सम्पर्क है उसे हमने इसी प्रकार छिन्न कर डाला है। वसन्त में सभी वन-उपवनों में फूलों के खिल जाने का समय आ जाता है, उस समय वे खूब सजीव हो उठते हैं, उस समय उनके विकास का उत्सव चलने लगता है। उस समय आत्मदान के उच्छ्वास से तरुलताएँ पागल हो उठती हैं, तब उनको हिसाब का बोध मात्र भी नहीं रहता। जहाँ दो-चार फल लगने की जगह है, वहाँ पचीसों मुकुल निकल आते हैं। क्या मनुष्य ही केवल इस अत्यधिकता के पथ को रोक देगा? क्या वह अपने को प्रस्फुटित न करेगा, गलने नहीं देगा, दान करना न चाहेगा? वह क्या केवल मकान लीपता रहेगा, बासन माँजता रहेगा, और जिनके ऊपर यह बला नहीं है वे दिन के चार बजे तक—रेशमी गलाबन्द ही बुनते रहेंगे। हम क्या इस हद तक विषया-सक्त मनुष्य हैं? हम क्या वसन्त के निगूढ़ रस, सञ्चार-विकसित तरुलता पुष्प पल्लवों के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते? वे तो हमारे घरों के आँगन को छाया से ढक कर, गन्ध से भर कर अपनी भुजाओं से घेर कर खड़े हैं, वे क्या हमारे इतने पराये हैं कि, जिस समय वे फूलों से लद जायँगे उस समय हम चपकन पहिन कर आफिस चले जायँगे—किसी अनि-र्वचनीय वेदना से हमारा हृत्पिण्ड तरुपल्लवों की भाँति काँप न उठेगा?

मैं तो आज पेड़-पौधों के साथ बहुत दिनों की अपनी आत्मीयता स्वीकार करूँगा। यह बात आज मैं किसी तरह भी न मानूँगा कि, व्यस्त होकर कामकाज के फेर में घूमते रहने में ही जीवन की अद्वितीय सार्थकता है। आज हमारी उस युगान्तर की बड़ी बहन वनलक्ष्मी के घर भैयादूज का निमंत्रण है। वहाँ आज तरुलताओं के साथ एकदम घरके लोगों की तरह मिलना-जुलना पड़ेगा। आज छाया में पड़े रहने की हालत में सारा दिन व्यतीत होगा, मिट्टी को आज अपने दोनों हाथों से जकड़ रखना पड़ेगा। जब वसन्त की हवा बहने लगेगी, तब उसके आनन्द को मैं अपनी छाती की पंजरियों के बीच से अनायास हू-हू करके बह जाने दूँ, वहाँ वह ऐसी कोई ध्वनि न जगा दे, जिस भाषा को पेड़-पौधे न समझ सकें। इसी प्रकार चैत्र के अन्त तक मिट्टी, हवा और आकाश के बीच जीवन को कच्चा बनाकर, हरा बनाकर बिखेर दूँगा। प्रकाश और छाया में चुपचाप पड़ा रहूँगा।

किन्तु हाय, कोई काम ही बन्द नहीं हुआ है, हिसाब का खाता लगातार चल ही रहा है। नियमों के यन्त्र के बीच, कर्मों के फन्दे के बीच पड़ गया हूँ—अब वसन्त के आने से भी क्या और उसके चले जाने से भी क्या?

मनुष्य समाज के समक्ष मेरा सविनय निवेदन यह है कि, यह अवस्था ठीक नहीं है। इसका संशोधन करना आवश्यक है। विश्व के साथ स्वतंत्र रहने के ही कारण मनुष्य का गौरव है ऐसी कोई बात नहीं है। मनुष्य में विश्व के सभी वैचित्र्य ही मौजूद हैं इसलिए मनुष्य बड़ा है। मनुष्य जड़ के साथ जड़ है, तरुलताओं के साथ तरुलता है, मृगपक्षियों के साथ मृगपक्षी है। प्रकृति के राजगृह के विभिन्न खण्डों के विविध दरवाजे ही उसके लिए खुले हुए हैं। किन्तु रहने से क्या होगा? एक-एक ऋतु के एक-एक महल से जब उत्सव का निमन्त्रण आता है, तब यदि मनुष्य उसपर कुछ भी ध्यान न देकर अपनी आदत की गद्दी पर ही पड़ा रहे तो ऐसा

बृहत् अधिकार उसको क्यों मिला ? परिपूर्ण मनुष्य बनने के लिए उसको सब कुछ ही बन जाना पड़ेगा, इस बात को न समझ कर मनुष्य ने मनुष्यत्व को विश्व विद्रोह की एक संकीर्ण ध्वजा के रूप में क्यों खड़ा कर रक्खा है ? क्यों वह दम्भ करके बार-बार यह बात कह रहा है—मैं बड़ा नहीं हूँ, उद्भिद नहीं हूँ, पशु नहीं हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं केवल काम करता हूँ और समालोचना करता हूँ, शासन करता हूँ, और विद्रोह करता हूँ। वह क्यों यह बात नहीं कहता—'मैं सब कुछ ही हूँ, सभी के साथ मेरा निर्विघ्न सम्पर्क है—स्वतंत्रता, पृथकत्व की ध्वजा मेरी नहीं है।

हाय रे समाज—ड ड़ का पक्षी ! आकाश का नील रंग आज विरहिणी की दोनों आँखों की तरह स्वप्नविष्ट है, पत्तियों की हरियाली आज युवती के कपोलों की तरह नवीन है, वसन्त की हवा आज मिलन के आग्रह की तरह चंचल है, तो भी तेरे पैरों में आज कर्मों की जंजीर झन्-झन् करती हुई बज रही है—यही क्या मानविक्रम है ?

मन्दिर

जब मैंने पहले पहल उड़ीसा का भुवनेश्वर मन्दिर देखा तब मनमें यह भाव उठ पड़ा मानो मैंने कोई नया ग्रन्थ पढ़ लिया है। मैं अच्छी तरह समझ गया कि पत्थर के टुकड़ों में बातें भरी हुई हैं। वे बातें बहुत शताब्दियों से स्तम्भित हैं, मूक हैं, इसलिए मानो वे हृदय में और भी अधिक आघात करती हैं।

ऋक्-रचयिता ऋषिगण छन्दों में मन्त्र रचना कर गये हैं। यह मन्दिर भी पत्थरों का मन्त्र है, हृदय की बातें दृष्टिगोचर होकर आकाश छेककर खड़ी हो गयी हैं।

मनुष्यों के हृदय ने यहाँ कौन सी बातें गूँथ रक्खी हैं। मनुष्य को अनन्त के बीच से अपने अन्तःकरण में ऐसी कौन वाणी मिल गयी थी

जिसको प्रकाशित करने की प्रबल चेष्टा से इस शैल के चरणों के नीचे विस्तृत मैदान फला हुआ है।

ये जो शताधिक देवालय हैं, जिनमें से अधिकांश में ही आजकल सन्ध्या-कालीन आरती का दीपक नहीं जलता, शंख घंटे नीरव हैं, जिसके खुदे हुये प्रस्तर खण्ड धूलि-लुण्ठित हैं, इन्होंने किसी एक व्यक्ति-विशेष की कल्पना को आकार देने की चेष्टा नहीं की है। ये उस समय के अज्ञात युग की भाषाओं के भार से आक्रान्त हैं।

इस देवालय श्रेणी ने अपनी निगूढ़ निहित चिन्तशक्ति के द्वारा दर्शकों के अन्तःकरण को सहसा जिस भावान्दोलन से उद्‌बोधित कर दिया, उसकी आकस्मिकता और उसकी समग्रता को व्यक्त करना कठिन है, विश्लेषण करके, खण्ड-खण्ड करके कहने की चेष्टा करनी पड़ेगी। मनुष्य की भाषा यहीं पत्थरों के सामने हार मानती है। पत्थर को एक के बाद एक करके वाक्य गूँथने की जरूरत नहीं पड़ती, वह स्पष्ट कुछ भी नहीं कहता, किन्तु जो कुछ वह कहता है, सब को एक ही साथ कहता है, एक ही पल में वह समूचे मन पर अधिकार कर लेता है—इस कारण मन ने क्या समझ लिया, क्या सुन लिया, वह क्या पा गया, यह भावों से समझ लेने पर भी भाषा में समझने का समय नहीं मिलता, अन्त में स्थिर होकर धीरे-धीरे उसको अपनी ही भाषा में समझ लेना पड़ता है।

मैंने देखा कि, मन्दिर की दीवारों पर सर्वत्र चित्र खुदे हुए हैं। कहीं जरा भी स्थान खाली नहीं है। जहाँ दृष्टि पड़ती है, और जहाँ दृष्टि नहीं पड़ती, सर्वत्र ही शिल्पी की आलस्य-रहित चेष्टा काम कर रही है।

ये सब चित्र विशेष रूप से पौराणिक चित्र नहीं है। इन अवतारों की लीला या स्वर्गलोक की देववाणी ही केवल देवालय के ऊपर लिखी हुई हैं यह तो मैं नहीं कह सकता। मनुष्य की छोटी बड़ी, भली बुरी प्रतिदिन की घटनाएँ, उनके काम, युद्ध और शान्ति, घर और बाहर, विचित्र आलेखों के द्वारा मन्दिर को घेरे हुए हैं। इन चित्रों में मुझे और

कोई उद्देश्य नहीं दिखाई पड़ता, केवल यह संसार जिस तरह चल रहा है, उसी को अंकित करने की चेष्टा इसमें लक्षित होती है। इस कारण चित्र-श्रेणी के भीतर ऐसी बहुत सी चीजें दृष्टि में पड़ जाती हैं, जिनसे यह नहीं मालूम होता कि वे देवालय में अङ्कित करने योग्य है। इनके भीतर चुनने छानने योग्य कुछ भी नहीं है—तुच्छ और महत् गोपनीय और घोषणीय, सत्य ही हैं।

यदि किसी गिरजाघर में जाकर मैं देख पाता कि, वहाँ दीवालों पर अंग्रेज समाज के प्रतिदिन के चित्र झूल रहे हैं—कोई खाना खा रहा है, कोई 'डाग कार्ट' हाँक रहा है, कोई पियानो बजा रहा है, कोई रंगिनी को बाहुपाश में लपेटकर जातीय नाच नाच रहा है, तो मैं हतबुद्धि होकर सोचने लगता कि शायद मैं कोई स्वप्न देख रहा हूँ—क्योंकि गिरजा घर संसार को सब प्रकार से पोंछकर हटा देने के बाद अपनी स्वर्गीयता प्रकट करने की चेष्टा करता है। मनुष्य वहाँ लोकालयों के बाहर आता है—यह मानो यथासम्भव मर्त्यसंम्पर्श विहीन देवलोक का आदर्श है।

इसीलिए, भुवनेश्वर मन्दिर की चित्रावली से पहले मनमें विस्मय का आघात लगता है। स्वभावतः शायद हमें ऐसा आघात नहीं लगता, किन्तु शैशवावस्था से ही अंग्रेजी शिक्षा मिलने से हमलोगों ने स्वर्ग-मर्त्य को मन ही मन अलग-अलग विभागों में बाँट रक्खा है। सर्वदा ही हम सतर्कता में थे, पीछे कहीं देव आदर्श में मानव भाव की कोई आँच न लग जाय, कहीं यह न हो जाय कि देवमानव के बीच जो परम पवित्र सुदूर का व्यवधान है, उसको क्षुद्र मनुष्य लंघन कर जाय।

यहाँ मनुष्य मानो एकदम देवता के शरीर पर आ पड़ा है—यह भी नहीं कि, वह धूल झाड़कर आ गया हो! गतिशील, कार्यरत, धूलिलिप्त संसार की प्रतिकृत निःसंकोच खूब ऊँची होकर देवता की प्रतिमूर्ति को आच्छन्न किये हुए हैं।

मन्दिर के भीतर चला गया—मैंने देखा, वहाँ एक भी चित्र नहीं है, प्रकाश नहीं है, अनलंकृत निभृत अस्फुटता के बीच देवमूर्ति निस्तब्ध होकर विराज रही है।

इसका एक बृहत् अर्थ मन में उदय हुए बिना रह नहीं सकता। मनुष्य ने इस पत्थर की भाषा से जो कुछ कहने की चेष्टा की है, वह उस बहुदूरवर्ती काल से मेरे मन में ध्वनित हो उठी।

वह बात यही है—देवता कहीं दूर नहीं हैं, वे गिरजा में नहीं हैं, वे हमारे ही भीतर हैं। वे जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, मिलन-विच्छेद के बीच स्तब्ध भाव से विराजमान हैं। यह संसार ही उनका चिरन्तन मन्दिर है। यह सजीव-सचेतन विपुल देवालय प्रतिदिन विचित्र रूप से चित्रित होता जा रहा है। यह किसी काल में भी नूतन नहीं है, यह किसी काल में पुरातन नहीं होता। इसका कुछ भी स्थिर नहीं है, सब ही सतत परिवर्तनशील है; तो भी इसका महत् ऐक्य, इसकी सत्यता, इसकी नित्यता नष्ट नहीं होती—क्योंकि, इस चञ्चल विचित्र के भीतर एक नित्य सत्य प्रकाश पा रहे हैं।

भारतवर्ष में बुद्धदेव ने मानव को बड़ा बनाया था। उन्होंने जातिभेद नहीं माना, यज्ञों का आश्रय लेने से मनुष्यों को मुक्ति दे दी थी, देवता को मनुष्यों के लक्ष्य से हटा दिया था। उन्होंने मनुष्य की आत्मशक्ति का प्रचार किया था। दया और कल्याण के लिए उन्होंने स्वर्ग से प्रार्थना नहीं की, उन्होंने मनुष्यों के अन्तर से उनका आह्वान किया था।

इसी प्रकार श्रद्धा के द्वारा, भक्ति के द्वारा उन्होंने मनुष्य के अन्तर के ज्ञान, शक्ति और उद्यम को बहुत ऊँचे स्थान पर पहुँचा दिया था। उन्होंने यह घोषणा कर दी कि, मनुष्य, दीन, दैवाधीन, हीन पदार्थ नहीं है।

ऐसे ही समय में हिन्दुओं का चित्त जाग्रत होकर बोल उठा—"यह बात यथार्थ है—मनुष्य दीन नहीं है, हीन नहीं है, क्योंकि मनुष्य की जिस शक्ति ने मनुष्य के मुख में भाषा दी है, उसके मन में बुद्धि दी है,

बाहुओं में निपुणता दी है, जो समाज को गठित कर रही है, संसार को चला रही है, वही है दैवी शक्ति।

बुद्धदेव ने जिस आकाशभेदी मन्दिर की रचना की, उसी में नवप्रबुद्ध हिन्दुओं ने अपने देवता को प्राप्त किया। बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के अन्तर्गत हो गया। मनुष्यों में देवता का प्रकाश है, संसार में देवता की प्रतिष्ठा है, हमारे प्रतिक्षण के सुख-दुःखों में देवता का सञ्चार है, यही नवहिन्दू धर्म का सार वचन हो उठा। शाक्तों की शक्ति, वैष्णवों का प्रेम घरों में बिखर पड़ा—मनुष्य के छोटे कामकाज में शक्ति का प्रत्यक्ष हाथ, मनुष्य की स्नेह-प्रीति के सम्बन्ध में दिव्य प्रेम की प्रत्यक्ष लीला अत्यन्त निकटवर्ती होकर दिखाई पड़ी। इस देवता के आविर्भाव से छोटे-बड़े का भेद मिट जाने की चेष्टा होने लगी। समाज में जो लोग घृणित थे, उन्होंने भी अपने को दैव शक्ति का अधिकारी कहकर अभिमान किया। प्राकृत पुराणों में इसका इतिहास विद्यमान है।

उपनिषद् में एक मन्त्र है—

"वृक्षइव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः।"

"जो एक हैं वे आकाश में वृक्ष की तरह स्तब्ध बने हुए हैं।' भुवनेश्वर का मन्दिर उसी मन्त्र को कुछ और विशेष भाव से यह कहकर उच्चारण कर रहा है—"जो एक हैं, वे इस मानव संसार में स्तब्ध होकर पड़े हुए हैं। जन-मृत्यु का यातायात हमारी आँखों के ऊपर से केवल चक्कर काट रहा है, सुख-दुःख उठ रहे हैं, गिर रहे हैं। पाप-पुण्यप्रकाश से, छाया से, संसार भित्ति को चित्रित करते जा रहे हैं, सब ही विचित्र हैं, सब ही चञ्चल हैं—इसके अन्तर में निरलङ्कार निभृत है, वहाँ जो एक हैं, वे ही विद्यमान हैं। जो स्थिर हैं उनका ही शान्तिनिकेतन यह अस्थिर समुदाय है। जो नित्य हैं उनका ही चिर-प्रकाश यह परिवर्तन परम्परा है। देव-मानव, स्वर्गमर्त्य, बन्धन और मुक्ति का यही सामञ्जस्य है। यही पत्थर

की भाषा में ध्वनित हो रहा है। उपनिषद ने ऐसी ही बात एक उपमा में व्यक्त की है—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।'
'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।'

'दो सुन्दर पक्षी एकत्र संयुक्त होकर एक वृक्ष पर निवास कर रहे हैं। उनमें से एक स्वादिष्ट पिप्पल खा रहा है, दूसरा अनशन करता हुआ उसे देख रहा है।'

जीवात्मा-परमात्मा का ऐसा सायुज्य, ऐसा सारूप्य, ऐसा सालोक्य, इतने अनायास ऐसी सहज उपमा से, ऐसे सरल साहस के साथ और कहाँ बताया गया है? जीव के साथ भगवान् की सुन्दर समता को मानो कोई प्रत्यक्ष आँखों के सामने देखकर बोल उठा है—इसीलिए उसको उपमा के लिए आकाश-पाताल टटोलना नहीं पड़ा है। आरण्यचारी कवि ने ससीम और असीम दोनों को एक दूसरे के शरीर से सटाकर, दो सुन्दर पंखोंवाली चिड़ियों की भाँति बनाकर, उन्हें बैठे रहने की हालत में देख लिया है, किसी बहुत बड़ी उपमा का आडम्बर रचकर इस निगूढ़ तत्त्व को बृहत् रूप में देखने की चेष्टा नहीं की है। दो सुन्दर चिड़ियाँ जिस तरह स्पष्ट रूप से गोचर हैं, जिस तरह सुन्दरता के साथ दिखाई पड़ती हैं, उनमें नित्य परिचय की सरलता जिस प्रकार एकान्त है, किसी बृहत् उपमा में इस तरह नहीं रह सकती। उपमा छोटे रूप में ही बृहत् रूप होकर प्रकट हुई है। बृहत् सत्यद्रष्टा का जो निश्चिन्त साहस है, वह छोटी सरल उपमा में ही यथार्थ भाव से व्यक्त हुई है। ये दोनों चिड़ियाँ, पाँख पाँख से संयुक्त हो गयी हैं, ये परस्पर सहेलियाँ हैं, ये एक ही वृक्ष पर रहती हैं, इनमें से एक है भोक्ता, दूसरी है साक्षी, एक है चंचल, दूसरी है स्तब्ध।

भुवनेश्वर का मन्दिर भी मानो यह मन्त्र वहन कर रहा है, उसने

देवालय से मानवता को पोछ नहीं डाला है, इस बात की घोषणा उसने दोनों पत्नियों को एक साथ प्रतिष्ठित करके की है।

किन्तु भुवनेश्वर के मन्दिर में मानों कुछ और विशेषता है। ऋषि कवि की उपमा में निभृत अरण्य की एकान्त निर्जनता का भाव मात्र रह गया है। द्रव उपमा की दृष्टि से प्रत्येक जीवात्मा मानो एकाकी रूप से ही परमात्मा के साथ संयुक्त है। इसके द्वारा जो ध्यानछवि मन में आ जाती है, उसमें यह दिखाई पड़ता है, जो मैं भोग कर रहा हूँ, उसी के भीतर शान्ति 'शिवमद्वैतम्' स्तब्ध भाव से आविर्भूत है।

किन्तु एक के साथ एक का यह संयोग भुवनेश्वर मन्दिर में लिखा हुआ नहीं है। वहाँ सभी मनुष्य अपने सभी कर्मों, सभी भोगों को लेकर अपने छोटे बड़े सभी इतिहासों को ढोकर, समग्रभाव से एक होकर, अपने बीच अनन्त रूप से साक्षी रूप में भगवान को प्रकाशित कर रहे हैं। निर्जन में नहीं, योग में नहीं—अपने जनों के साथ, कर्मों के बीच ! उसने संसार को लोकालय को देवालय बनाकर व्यक्त किया, उसने समष्टि रूप से मानव को देवत्व में अभिषिक्त किया है। उसने पहले तो छोटे बड़े सभी मनुष्यों को अपने प्रस्तरपट पर एक बनाकर सजा दिया है, उसमें उसने दिखाया है, परम ऐक्य कहाँ है, वे कौन हैं। इस ऐक्य के अन्तरतर आवि-र्भाव से प्रत्येक मानव, समग्र मानव के साथ सम्मिलित होकर महान है। पिता के साथ पुत्र, भ्राता के साथ भ्राता, पुरुष के साथ स्त्री, पड़ोसी के साथ पड़ोसी, एक जाति के साथ दूसरी जाति, एक काल के साथ अन्य काल, एक इतिहास के साथ अन्य इतिहास, देवतात्मा द्वारा एकात्मा हो उठा है।

पागल

पच्छिमी भारत का एक छोटा सा शहर है। सामने एक बड़ी सड़क है। उसके उस पार फूस की छाजनों के ऊपरी भाग में पाँच छः ताल

वृक्ष गूँगे के इशारे की तरह आकाश में दिखाई पड़ रहे हैं, और खाली पड़े हुए मकान के पास पुराना इमली का पेड़ अपनी छोटी-छोटी चिकनी घनी पत्तियों के बोझ से हरे रंग के बादल की तरह स्तूपों के आकार में फूला हुआ है। छाजन विहीन टूटे हुए गृह की धरती में एक बकरी का बच्चा चर रहा है।

आज इस शहर के मस्तक के ऊपर से वर्षा ने हठात् अपना काले रंग का घूँघट हटा दिया है।

मुझे बहुत आवश्यक विषयों पर लिखना है—वे अभी लिखे नहीं गये है। मैं जानता हूँ कि, यह मेरे लिए भविष्य मे अनुताप का कारण बन जायगा। भले ही बन जाय, सहन करना ही पड़ेगा। कौन मूर्ति पूर्णता धारण करके एकाएक कब अपना आभास दे जाती है, इसको पहले से ही जानकर तो कोई तैयार नहीं रह सकता, किन्तु जब कि वह प्रकट हो जाती है, तब तो उसकी अभ्यर्थना खाली हाथ से नहीं की जा सकती। उस समय जो मनुष्य लाभ हानि को आलोचना कर सकता है, वह खूब हिसाबी मनुष्य माना जाता है, संसार मे उसकी उन्नति होती रहेगी। किन्तु हे निबिड आषाढ़ के मध्य में पड़ा हुआ एक दिन का ज्योतिर्मय अवकाश! तुम्हारी शुभ्रमेघमाला से खचित क्षणिक अभ्युदय के सामने, मैंने अपने सभी जरूरी कामों को चौपट कर डाला। आज मैंने वर्तमान के हाथ अपने को बेच डाला।

दिन के बाद दिन आते रहते हैं, मेरे सामने वे कुछ भी विशेष मांग नहीं रखते, तब हिसाब के आँकड़े में भूल नहीं होती, तब सभी काम सहूलियत से किये जा सकते हैं। तब यह जीवन एक दिन के साथ दूसरे दिन को, एक काम के साथ दूसरे काम को, भली भाँति गूँथता हुआ अग्रसर होता है, सब कुछ खूब समान भाव से चलता रहता है। किन्तु हठात् कोई खबर न देकर, एक विशेष दिन सात समुद्र के उस पार के राजकुमार की तरह आ धमकता है, प्रतिदिन के साथ उसका कोई मेल

नहीं होता—तब एक ही पल में इतने दिनों का सारा सूत्र खो जाता है, तब बँधे हुए कामों के लिए बड़ी कठिनाई पड़ जाती है।

किन्तु यही दिन हमारे लिए महत्व का दिन है—यही नियमविहीन दिन, यही काम नष्ट करने का दिन, जो दिन आकर हमारे प्रतिदिन को विपर्यस्त कर देता है, वही दिन हमारे लिए आनन्ददायक है। दूसरे जो दिन हैं, वे बुद्धिमानों के दिन हैं, सावधान लोगों के दिन हैं, और उनमें से एक एक दिन पूरे पागलपन के सामने पूर्णरूप से उत्सर्ग किया हुआ है।

यह पागल शब्द हमारे लिए घृणा करने योग्य शब्द नहीं है। पागल निमाई को हमलोग पागल कहकर भी उनकी भक्ति करते हैं। हमारे पागल देवता हैं महेश्वर! प्रतिभा पागलपन का एक प्रकार का विकास है या नहीं, इस विषय को लेकर यूरोप में वादानुवाद चल रहा है, किन्तु हमलोग इस बात को स्वीकार करने में कुंठित नहीं होते। प्रतिभा पागल-पन तो है ही, वह है नियमों को न मानना, उलट फेर करने से ही उसका आगमन होता है—वह आज के इस बेमेल निकम्मे दिन की तरह हठात् आ जाती है और जितने कार्यव्यस्त मनुष्य हैं, उनके कामों को बिगाड़ जाती है; कोई तो उसको गालियाँ सुनाता रहता है, कोई उसको लेकर नाचता कूदता हुआ अस्थिर हो उठता है।

भोलानाथ, जो हमारे शास्त्रों में आनन्दमय कहे जाते हैं, वे सभी देवताओं में ऐसे ही पृथक हैं। उसी पागल दिगम्बर को मैं आज के इस धुले हुए नीले आकाश की सर्वत्र फैली हुई धूप में देख रहा हूँ। इस निविड़ मध्याह्न के हृत्पिण्ड में उनका डिम् डिम् डमरू बज रहा है। आज मृत्यु की उल्लंग शुभ्रमूर्ति इस कर्मनिरत संसार के मध्यभाग में कैसे निस्तब्ध भाव से खड़ी है। सुन्दर शान्ति छवि है! भोलानाथ! मैं जानता हूँ तुम अद्भुत हो। जीवन के क्षण-क्षण में अद्भुत रूप से ही तुम अपनी भीख की झोली लेकर खड़े हो। तुमने हिसाब-किताब को एकदम नष्ट निश्चिह्न कर दिया है। तुम्हारे नन्दीभृङ्गी के साथ मेरा परिचय है। आज

उन लोगों ने तुम्हारे भोग का प्रसाद मुझे एक बूँद भी नहीं दिया है, यह मैं नहीं कह सकता—इससे मुझे नशा हो गया है, सब अस्त-व्यस्त हो गया है—आज मेरा कुछ भी व्यवस्थित नहीं है।

मैं जानता हूँ, सुख प्रतिदिन की सामग्री है, आनन्द प्रतिदिन के अतीत हैं। सुख शरीर में कहीं धूल लग जाने की आशंका से संकुचित रहता है, आनन्द धूल में लोटपोट होकर निखिल विश्व के साथ अपना व्यवधान तोड़-फोड़कर चूर-मार कर देता है—इसी कारण सुख के लिए धूल हेय है, आनन्द के लिए धूल भूषण है। सुख कुछ खो जाने की अशंका से डरा हुआ रहता है; आनन्द यथासर्वस्व वितरण करके परितृप्त रहता है। इस कारण सुख के लिए रिक्तता दारिद्य है। आनन्द के लिए दरिद्रता ही ऐश्वर्य है। सुख व्यवस्था के बन्धनों में अपनी श्री मात्र की सतर्कता के साथ रक्षा करता है, आनन्द संहार की मूर्ति में अपने सौन्दर्य को उदार भाव से व्यक्त करता है। इसीलिए सुख बाहर के नियमों से बद्ध है, आनन्द उस बन्धन को छिन्न करके अपने नियमों को आप ही बना लेता है। सुख सुधामात्र के लिए ताकता हुआ बैठा रहता है, आनन्द दुःख के विष को अनायास ही हजम कर जाता है। इसलिए केवल अच्छाई की ही तरफ सुख का पक्षपात रहता है, और आनन्द के लिए भला-बुरा दोनों ही समान हैं।

इस सृष्टि में एक पागल मौजूद हैं, जो कुछ हमारी कल्पना के बहिर्भूत है, उन्हें वे ही आप-ही-आप पहुँचा देते हैं। वे हैं केन्द्रातिग, 'सेन्ट्रिफ्युगल'। वे केवल नियमों को बाहर की तरफ खींच रहे हैं। नियमों के देवता संसार के सभी मार्गों को परिपूर्ण चक्र-मार्ग बना देने की चेष्टा कर रहे हैं और यह पागल उन्हें बटोरकर कुण्डली के आकार में परिणत कर रहे हैं। यह पागल अपनी मौज से सर्पों के वंश में पक्षी और बन्दरों के वंश में मनुष्य उद्भावित कर रहे हैं जो हो चुका है, जो मौजूद हैं, उसको ही चिरस्थायी रूप से बचा रखने के लिए संसार की एक विषम

चेष्टा चल रही है, ये उसको छारखार करके, जो नहीं है उसके ही लिये मार्ग साफ कर रहे हैं। इनके हाथ में बाँसुरी नहीं है, सामञ्जस्य का सुर इनका नहीं है, पिनाक झंकृत हो जाता है, विधिविहित यज्ञ नष्ट हो जाता है, और कहाँ से एक अपूर्वता आकर छेंक बैठती है। पागल भी इनकी ही कीर्ति है, और प्रतिभा भी इनकी ही कीर्ति है। इनके खींचने से जिसका तार टूट जाता है वह हो जाता है उन्माद, और जिसका तार अश्रुतपूर्व सुर में बज उठता है, वह हो जाता है प्रतिभावान। पागल भी दश के बाहर रहता है, और प्रतिभावान की भी यही हालत है। किन्तु पागल बाहर ही रह जाता है, और प्रतिभावान दस को एकादश की पाँत में लाकर दस के अधिकार को बढ़ा देते हैं।

केवल पागल ही नहीं, केवल प्रतिभावान् ही नहीं, हमारी प्रति दिन की एकरंगी तुच्छता में, अकस्मात् 'भयंकर' अपना जलता हुआ जटापुञ्ज लिए हुए प्रकट हो जाता है। वह भयंकर, प्रकृति में एक अप्रत्याशित उत्पात, और मनुष्यों में एक असाधारण पाप के आकार में जाग उठता उठता है। तब कितने ही सुखमिलन का जाल नष्टभ्रष्ट हो जाता है, कितने ही हृदयों का सम्बन्ध छारखार हो जाता है। हे रुद्र! तुम्हारे ललाट से धकधकाती हुई अग्निशिखा के स्फुलिङ्गमात्र से अँधेरे में गृह का जो प्रदीप जल उठता है, उसी शिखा से लोकालयों में, सहस्रों की हाहाध्वनि से निशीथ रात्रि में गृहदाह उपस्थित हो जाता है। हाय शम्भु! तुम्हारे नृत्य से, तुम्हारे दायें और बायें पैरों के उठने-गिरने से संसार में महापुण्य और महापाप उत्क्षिप्त हो उठते हैं। संसार के ऊपर प्रतिदिन के जड़ हस्तक्षेप से जो एक सामान्यता का आवरण गिर पड़ता है, भले-बुरे दोनों के ही प्रबल आघात से तुम उसको छिन्न-विच्छिन्न करते रहते हो, और प्राणों के प्रवाह को अप्रत्याशित उत्तेजना से क्रमागत तरंगित करके, शक्ति की नव-नव लीलाओं और सृष्टि की नव-नव मूर्तियों को प्रकट कर देते हो। हे पागल! तुम्हारे इस रुद्र आनन्द में योग देने में मेरा भयभीत

हृदय पराङ्मुख न होने पावे। संसार के रक्तआकाश के बीच तुम्हारा सूर्यकिरणों से चमकता हुआ तीसरा नेत्र ध्रुव-ज्योति से मेरे अन्तर के अन्तर को उद्भासित कर दे। नृत्य करो, हे उन्माद, नृत्य करो। उस नृत्य के चक्कर के वेग से आकाश की एक लाख करोड़ योजनव्यापी चमकती हुई नीहारिका जब चक्कर लगाती रहेगी, तब मेरे वक्ष में भय का आक्षेप, इस रुद्रसंगीत का ताल काटकर न चली जाय। हे मृत्युञ्जय! हमारे समस्त भलों और समस्त बुरों के बीच तुम्हारी ही जय हो।

हमारे इस पागल देवता का अविर्भाव रह-रह कर होता है, ऐसी बात नहीं है। सृष्टि में इसका पागलपन हरदम लगा ही हुआ है, हमें रह-रहकर केवल उसका परिचय ही मिलता है। प्रतिक्षण ही जीवन को मृत्यु नवीन बना रही है, भले को बुरा उज्ज्वल बना रही है, तुच्छ को आकस्मिक मूल्यवान बना रही है। जब हम परिचय पा जाते हैं तभी रूप में अपरूप, बन्धन में मुक्ति का प्रकाश हमारे सामने जाग उठता है।

आज के इस मेघोन्मुक्त आलोक में मेरे सामने उसी अपरूप की मूर्ति जाग उठी है। सामने के उस रास्ते को, उस फूल की छाजनवाली बनिये की दूकान को, उस खंडहर को, उस पतली गली को, उन पेड़-पौधों को प्रतिदिन के परिचय के बीच मैंने अत्यन्त तुच्छ रूप में देखा था। इसी कारण उन्होंने मुझे आबद्ध कर डाला था, रोज इन्हीं कुछ चीजों के बीच मुझे नजरबन्द कर रक्खा था। आज हठात् वह तुच्छता बिलकुल चली गयी है। आज मैं देख रहा हूँ, चिर-अपरिचित को इतने दिनों से मैं परिचित के ही रूप में देख रहा था। आज यह जो कुछ है इन सभी को देखकर मैं खतम् ही नहीं कर सकता। आज वे सब ही चारों तरफ हैं, फिर भी उन्होंने मुझे आबद्ध करके नहीं रक्खा है। उनमें से प्रत्येक ने ही मेरे लिए रास्ता छोड़ दिया है। मेरे पागल यहीं थे। उसी अपूर्व, अपरिचित, अपरूप ने इस बनिये की दूकान की फूस की बनी छाजनों की अवज्ञा नहीं की थी—केवल जिस आलोक से वे दिखाई

पड़ते हैं वह आलोक मेरी आँखों के सामने नहीं था। आज आश्चर्य यह है कि, उस सामने के दृश्य ने, उस निकटस्थ वस्तु ने मेरे सामने एक बहुत दूर की महिमा प्राप्त कर ली है। उसके साथ है गौरीशंकर की तुषारवेष्टित दुर्गमता, महासमुद्र की तरङ्ग चञ्चल दुस्तरता, जो अपनी स्वजातीयता व्यक्त कर रही हैं।

इसी प्रकार हठात् एक दिन यह जान सकते हैं कि, जिसके साथ मैं ने अत्यन्त घर-गृहस्थी कायम कर ली थी, वह मेरी घर-गृहस्थी के बाहर है। मैं जिसको प्रतिक्षण का बँधा भाग्य समझकर नितान्त निश्चिन्त हो गया था, उसकी तरह दुर्लभ कष्ट से प्राप्त होनेवाली चीज कुछ भी नहीं है। मैं जिसको अच्छी तरह जानता हूँ यह समझकर, उसके चारों तरफ चौहद्दी खींचकर निश्चिन्त बैठा हुआ था, उसको मैं देख रहा हूँ कि, एक ही क्षण में सभी सीमाओं को पार करके अपूर्व रहस्यमय हो उठा है। जिसको नियमों की दृष्टि से, स्थिति की दृष्टि से बहुत छोटा-मोटा, बहुत नियमबद्ध, अपना सा ही समझ रहा था, उसको टूटे-फूटे की तरह से, उस श्मशानविहारी पागल की तरफ हठात् देख लेने पर मुख से फिर कोई बात ही नहीं निकलती--आश्चर्य है! यह कौन है! जिसको चिर दिन से मैं जानता था वही यह कौन है! जो एक तरफ घर का है, वही दूसरी तरफ से अन्तर का है, जो एक तरफ काम का है, वह दूसरी तरफ सभी आवश्यकताओं के बाहर है, जिसको एक तरफ स्पर्श कर रहा हूँ, वह दूसरी तरफ सभी आयत्तों के अतीत है—जो एक तरफ सबके साथ खूब मेल खा गया है, वह दूसरी तरफ भयंकर रूप से, अपने आप ही में बेमेल बन गया है।

प्रतिदिन जिनको मैंने नहीं देखा था, उनको मैंने आज देख लिया। मैं सोच रहा था कि, चारों तरफ परिचित के घेरे में प्रतिदिन के नियमों द्वारा मैं बँधा हुआ हूँ—आज देखता हूँ कि, मैं महा अपूर्व की गोद में चिरदिन खेल रहा हूँ। मैंने सोचा था कि, आफिस के बड़े साहब की

तरह, अत्यन्त सुगम्भीर हिसाबी मनुष्य के हाथ में पड़कर संसार के प्रत्येक अंक को पढ़ता जा रहा हूँ—आज उस बड़े साहब की अपेक्षा जो बड़े हैं, उसी बहुत बड़े बेहिसाबी पागल का उदार अट्टहास्य, जल-थल, आकाश, सात लोकों को भेदकर ध्वनित हो रहा है, जिसे सुनकर मैं शान्ति की साँस लेकर बच गया। मेरे खाता-पत्र सभी पड़े रह गये। अपने जरूरी कामों का बोझ मैंने उस निकम्मे के पैरों के पास फेंक दिया, उनके ताण्डव-नृत्य के आघात से वह चूर्ण-चूर्ण होकर धूल बन जाय और तत्पश्चात् उड़ जाय।

आषाढ़

ऋतु-ऋतु में जो भेद, वह केवल वर्णों का भेद नहीं है, वृत्तियों का भी भेद है। जेठ मास की पिङ्गल जटा, सावन के मेघस्तूप से नीली हो उठती है, फागुन की श्यामलता से वृद्ध बना हुआ पौष मास अपनी पीली रेखा को पुनः चलाने की चेष्टा करता है। किन्तु प्रकृति के धर्मराज्य में ये सब उलट फेर नहीं टिकते

ग्रीष्म को हम ब्राह्मण कहते हैं। समस्त रस बाहुल्य को दमन करके, जंजाल को मिटाकर, तपस्या को जलाकर वह निवृत्ति मार्ग का मंत्र साधन करता है। सावित्री मंत्र जपते-जपते कभी तो वह निःश्वास धारण कर रखता है, तब हवा बन्द प्राय रहने से वृक्षों की पत्तियाँ नहीं हिलतीं। फिर जब वह अपना रुद्ध निःश्वास छोड़ देता है, तब पृथ्वी काँप उठती है। इसके आहार का आयोजन प्रधानतः फलाहार है।

वर्षा को यदि हम क्षत्रिय कहें तो कोई दोष न होगा। उसका घोषक आगे-आगे गुर-गुर शब्द करता हुआ दमामा बजाता-बजाता आता है। मेघों की पगड़ी पहनकर वह खुद ही आकर पीछे दिखाई पड़ता है। उसको थोड़े से संतोष नहीं होता। दिग्विजय करना ही उसका काम है। लड़ाई करके समूचे आकाश को दखल करके, वह दिक चक्रवती हो जाता है।

तमालताली वनराजि के नीलतम छोर से उसके रथ की घर्घर ध्वनि सुनाई पड़ती है, उसकी टेढ़ी तलवार क्षण-क्षण में म्यान से निकल कर दिशा के वक्षस्थल को विदीर्ण करती रहती है, और उसके तरकस से वरुणबाण फिर खतम होना ही नहीं चाहता। इधर उसके पायन्दाज पर हरे किमख्वाब की चादर बिछी हुई है, माथे के ऊपर घनपल्लव श्यामल चन्द्रातप से सोने के कदम्बों की झालरें झूल रही हैं, और पूर्व दिग्‌ वधू उसके पास खड़ी रहकर अश्रुपूर्ण नेत्रों से उसको केतकी गन्धवारिसिक्त पंखी झलते समय अपने विद्युत्वत् मणियों से जड़ित कागजों को चमका रही है।

और यह शीत है वैश्य। उसके पके धानों के कटने-झाड़ने का आयोजन सारा दिन चल रहा है। उड़द, जौ, चने के प्रचुर आश्वास से पृथ्वी की डलिया परिपूर्ण है। प्राङ्गण में बखारे भर उठी हैं, गौशाला में गायें पगुरी कर रही हैं। घाट-घाट पर नावों पर माल लाद दिये गये हैं, राह-राह में गाड़ी बोझ के दबाव से धीरे-धीरे चल रही है, और घर-घर नवान्न और पर्वोपयोगी खाद्य तैयार करने में ढेकीशाला मुखरित है।

ये तीन प्रधान वर्ण माने गये हैं। शरत् और वसन्त को शूद्र कह सकते हैं। इनमें से एक शीत का और दूसरी ग्रीष्म ऋतु की गठरी ढो लाती है। मनुष्य के साथ यहाँ प्रकृति का अन्तर है। प्रकृति की व्यवस्था में जहाँ सेवा है वहाँ ही सौन्दर्य है, जहाँ नम्रता है वहीं गौरव है। उसकी सभा में जो शूद्र हैं उसे छोटा नहीं माना गया है, जो बोझ ढोता है, सब शोभनीय वस्तुएँ उसकी ही हैं। इसीलिए शरत् की नीली पगड़ी के ऊपर सोने का मुलम्मा लगा रहता है, वसन्त की सुगन्धयुक्त पीली चादर में फूलदार नक्काशी का काम है। ये जिस पादुका को पहन कर पृथ्वी-पथ से विचरण करते हैं उसके ऊपर विविध रंग वाले से सूत की बूटियाँ काढ़ी हुई हैं। इनके गहनों में, कुण्डलों में, अंगूठियों में, कितने जवाहरात लगे हुए हैं, इसका कोई अन्त नहीं है।

इस तरह पाँच का हिसाब मिल गया। लोग किन्तु छः ऋतुओं की

ही चर्चा करते हैं। यह तो निहायत जोड़ मिलाने के लिए है। वे यह नहीं जानते कि बेजोड़ को ही लेकर प्रकृति का सारा आनन्द है। ३६५ दिन को दो से भाग करो—३६ तक अच्छी तरह मिल जाते हैं, किन्तु सब के अन्त का यह छोटा सा पाँच किसी तरह भी वश में आना नहीं चाहता। दो के साथ दो का मेल हो जाने से वह मेल रुक जाता। शिथिल हो जाता है। इस कारण पता नहीं कहाँ से एक तीन आ जाता है और उसको हिलाकर उसके जितने प्रकार के संगीत हैं उन सभी को गाने लगता है।

विश्वसभा में मेल न रखने वाला शैतान यही काम करने के लिए है; वह मेल की स्वर्गपुरी को किसी तरह भी निद्रा उपभोग करने नहीं देता, वही तो नृत्य करने वाली उर्वशी के नूपुरों के तालों को जब तब तोड़ देता है, इससे ताल को सँभालने के ही समय सुर सभा में उन तालों का रसोद्गम स्थल उच्छ्वसित हो उठता है।

ऋतुओं की संख्या छः मान लेने का एक कारण है। वैश्य को तीन वर्णों में सब से नीचे रक्खा गया है, किन्तु उसका ही परिणाम अधिक है। समाज के नीचे की बड़ी भीत है यही वैश्य। एक तरफ से यदि देखा जाय तो वर्ष का प्रधान विभाग शरत् से शीत तक है। वर्ष का पूर्ण परिणति इसी जगह है। फसलों का गुप्त आयोजन सभी ऋतुओं में जारी रहता है। किन्तु फसलों का प्रकाश उपर्युक्त समय में ही होता है। इसी कारण वर्ष के इस भाग को मनुष्य विस्तृत रूप से देखता है। इसी अंश में बालयौवन वार्धक्य की तीन मूर्तियों द्वारा सारे वर्ष की सफलता मनुष्यों के सामने प्रत्यक्ष हो जाती है। शरत् में वह आँखों को शीतल करके नये वेश में दिखाई पड़ती है, हेमन्त में वह खेतों में भरकर प्रवीण शोभा में पक जाती है, और शीत में वह घर को भर कर परिणति रूप में संचित हो जाता है।

शरत्-हेमन्त-शीत को मनुष्य एक ही ऋतु मान सकता था, किन्तु

अपने लाभ को वह थोक-थोक में बाँट करके देखना पसन्द करता है। उसकी इच्छित वस्तु एक होने पर भी उसको बहुत बनाकर हिलाने-डुलाने में ही सुख है। एक नोट से केवल सुविधा होती है, किन्तु तहों में बहुत से नोट देखकर मन को यथार्थ तृप्ति होती है। इसलिए ऋतु के जिस अंश में लाभ होता है उसी अंश में मनुष्य ने अपना ध्यान अधिक रखा है। शरत्-हेमन्त शीत में मनुष्यों की फसल का भण्डार रहता है, इसीलिए वहाँ उसके तीन गृह हैं, उनमें उसकी गृह लक्ष्मी रहती है। और वन-लक्ष्मी के वासस्थान दो गृहों का है—वसन्त और ग्रीष्म। उनमें ही उसके फलों का भण्डार है, वन भोजन की व्यवस्था है। फागुन में बौर लगते हैं, जेठ में वे फल रूप में पक जाते हैं। वसन्त में हम सूँघते हैं, और ग्रीष्म में स्वाद चखते हैं।

ऋतुओं में वर्षा ही केवल अकेली है। वह एक मात्र है। उसकी जोड़ी दूसरी नहीं है। ग्रीष्म के साथ उसका कोई मेल नहीं है। ग्रीष्म दरिद्र है, वर्षा है धन शालिनी। शरत् के साथ भी उसके मेल होने की सम्भावना नहीं है। क्योंकि शरत् ने उसकी ही सम्पत्ति को नीलाम करा कर दखल कर लिया है, जिसका फल यह हुआ है कि नदी-नाला, खेत-राह-घाट सभी उसको ही शोभा दे रहे हैं। जो ऋणी होता है, वह कृतज्ञ नहीं होता।

मनुष्य ने वर्षा को छोटे रूप में नहीं देखा है, क्योंकि वर्षाऋतु मनुष्यों की संसार-व्यवस्था के साथ किसी भी तरह से लिपट नहीं गयी है। उसकी करुणा उदारता पर सारे वर्ष के फल और फसलें निर्भर करती हैं, किन्तु वह इतनी धनी नहीं है कि अपने दान की बातों का प्रचार करती रहे। शरत की भाँति खेतों में, घाटों पर, पत्ते-पत्ते में वह अपनी उदारता की घोषणा नहीं करती। प्रत्यक्ष रूप से देना-पावना का सम्पर्क न रहने के कारण मनुष्य फलाकांक्षा त्याग कर वर्षा के साथ व्यवहार करता रहता

है। वस्तुतः वर्षा के जो कुछ प्रधान फल हैं वे ग्रीष्म के ही फलाहार भाण्डार के अवशेष हैं।

इसीलिये वर्षा ऋतु, विशेष रूप से कवि की ऋतु है। क्योंकि कवि गीता के उपदेशों से भी आगे बढ़ गया है। उसको कर्म में भी अधिकार नहीं है। फल में भी अधिकार नहीं है। उसका केवल अधिकार है छुट्टी में—कर्मों से छुट्टी—फलों से छुट्टी।

वर्षा ऋतु में फल की चेष्टा अल्प है और वर्षा की समस्त व्यवस्था कर्मों के प्रतिकूल है। इसीलिए वर्षा में हृदय छुट्टी पाता है। व्याकरण में जो लिङ्ग भी क्यों न हो, हमारी प्रकृति में वह स्त्री जातीय है इसमें सन्देह नहीं है। इसीलिए काम काज के आफिसों में या लाभ नुकसान के बाजार में वह अपनी पालकी से बाहर नहीं निकल सकती। वहाँ वह परदानशीन है।

बाबू लोग जब दुर्गा पूजा की छुट्टियों में कामकाज की व्यवस्तता से भरी घरगृहस्थी से दूर, जलवायु बदलने के लिए निकल पड़ते हैं, तब उनके घरों की बहुओं का परदा उठ जाता है। वर्षा काल में हमारी हृदय-बधू का परदा हट जाता है। बादलों से पूर्ण मर्महीन समय में वह किसी ऐसी जगह चली जाती है जिसे हम पकड़ ही नहीं सकते। एक दिन प्रथम आषाढ़ को उज्जयनि के कवि ने रामगिरी से अलका तक, मर्त्य से कैलाश तक उसका अनुसरण किया था।

वर्षा काल में हृदय की विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं, इसीलिए वह समय, विरही विरहणी के लिए सुख का समय नहीं है। तब हृदय अपनी समस्त अनुभूतियों का दावा लेकर सामने आ जाता है। इधर-उधर आफिस के प्यादे रहने से वह बहुत कुछ चुप हो रहता है, किन्तु उसको अब रोक रखने वाला कौन है।

इस विश्व में जितने कर्म चल रहे हैं उनमें एक डिपार्टमेंट बहुत बड़ा है। वह बिना काम का है। वह पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट के विपरीत है। वहाँ जो सब घटनाएँ होती हैं वे बिलकुल ही विशृंखलित होती हैं।

सरकारी हिसाब निरीक्षक ने खाता पत्रों की जाँच एकदम बन्द कर दी है। हम देखते हैं कि इतने बड़े आकाश में शुरू से अन्त तक नीले रंग की तूली से रंग देने की कोई जरूरत नहीं थी, इस शब्दहीन शून्य को वर्ण-हीन रख दिया जाता तो उसकी कोई शिकायत नहीं करता। इसके अतिरिक्त जंगलों में, मैदानों में, लाख-लाख फूल एक पहर में खिलते हैं, और दूसरे पहर में झर जाते हैं, उनके डंठलों से लेकर पत्तों की नोक तक में सर्वत्र अत्यधिक कारीगरी है; यह जो अत्यधिक अपव्यय हो रहा है, इसकी जवाबदेही क्या किसी के पास नहीं है। हम लोगों की शक्ति के सामने यह सब ही लड़कों का खिलवाड़ सा है, किसी व्यवहार में नहीं आता। हमारी बुद्धि के सामने यह सब ही आया है। इसके भीतर कोई यथार्थता नहीं है।

आश्चर्य की बात यह है कि इस आवश्यक स्थान में ही हृदय को स्थान प्राप्त है। इस कारण फल की अपेक्षा फूल में ही इसे तृप्ति मिलती है। फल में सुन्दरता कम नहीं है, किन्तु फल की आवश्यकता एक ऐसी चीज है जिससे लोभियों की भीड़ लगती है, बुद्धि विवेचना उसको प्राप्त करने के लिए अपना जोर लगाती है। इस कारण हृदय का घूँघट खींचकर वहाँ से जरा दूर हट जाने को बाध्य हो जाता है। इसीलिए यह दिखाई पड़ता है कि ताम्बे के रंग वाले पके हुए आमों के भार से पेड़ों की डालियाँ जब झुक जाती हैं, तब विरहणी की रसना में जिस रस की उत्तेजना उपस्थित होती है, वह गीत काव्य का विषय नहीं है। वह अत्यन्त यथार्थ है, उसके भीतर जो प्रयोजन है वह रुपया आना पाई में बाँधा जा सकता है।

वर्षा ऋतु अनावश्यकता की ऋतु है। अर्थात् उसके संगीतों में, उसके अन्धकार में, उसकी दीप्ति में, उसकी चंचलता में, उसकी गंभीरता में, उसकी सभी आवश्यकताएँ कहीं छिप गयी हैं। यह ऋतु अवकाश की ऋतु है—क्योंकि, भारतवर्ष में प्रकृति और मनुष्यों में परस्पर एक तरह

का समझौता हो चुका है। ऋतुएँ उसके दरवाजे से बाहर खड़ी होकर दर्शन पाये बिना लौट नहीं जाती थीं। ऋतुओं की अभ्यर्थना चलती थी।

भारतवर्ष की प्रत्येक ऋतु का ही एक न एक उत्सव है। किन्तु किस ऋतु ने एकदम अकारण ही उसके हृदय पर अधिकार कर लिया है, यदि इसको तुम देखना चाहते हो तो संगीत में उसे ढूँढो। क्योंकि संगीत में ही हृदय की भीतरी बात खुल जाती है।

यह कहना पड़ता है कि ऋतु की रागरागिनी केवल वर्षा और बसन्त में है। संगीत शास्त्र में सभी ऋतुओं के लिए, सुर के लिए कुछ-कुछ हिस्सा रहना सम्भव है, किन्तु वह केवल शास्त्र का ही विषय है। व्यवहार में हम देख पाते हैं कि, बसन्त के लिए है बसन्त और बहार, वर्षा के लिए है मेघ और मल्लार, देश और दूसरे बहुत से हैं। संगीत के मुहल्ले में वोट गणना होने से वर्षा की ही जीत होती है।

शरत् में, हेमन्त में, खेत और नदी के परिपूर्ण हो जाने से मन नाच उठता है, तब उत्सवों का भी अन्त नहीं रहता। किन्तु रागिनी में उसका प्रकाश क्यों नहीं है। इसका प्रधान कारण यह है कि, उस ऋतु में वास्तविकता व्यस्त हो उठती, और वह खेत घाट आदि स्थानों को छेक लेती है। वास्तविकता की सभा में संगीत अपनी तान सुनाने नहीं आता, जहाँ अखण्ड आकाश रहता है, वहाँ ही वह सलाम करके बैठ जाता है।

जो लोग वस्तुओं के कारबार में लगे रहते हैं, वे जिसे अवस्तु और शून्य समझते है, वह कोई तुच्छ चीज नहीं रहती। लोग एक दूसरे के हाथ भूमि का विक्रय करते है। आकाश नहीं बेचा जाता परन्तु पृथ्वी के वस्तु पिण्ड को घेरकर जो वायु मण्डल व्यस्त है, ज्योतिर्लोक के उसी पथ से प्रकाश यातायात होता है। पृथ्वी की समस्त शोभा वायुमण्डल में है। वहाँ ही उसका जीवन है। भूमि ध्रुव है। वह भारी है। उसका एक हिसाब मिलता है। किन्तु वायुमण्डल में कितना पागलपन है, वह विज्ञजनों से अविदित नहीं है। उसके मिजाज को कौन समझ सकता है।

पृथ्वी की सारी आवश्यकताएँ धूल के ऊपर हैं। किन्तु पृथ्वी का समस्त संगीत उसी शून्य में है, जिस स्थान में उसको उन्मुक्त अवकाश है।

मनुष्यों के चित्त के चारों तरफ ही एक विशाल अवकाश का वायु-मण्डल विद्यमान है। वहाँ ही उसके विभिन्न रंगों के विचार उड़ रहे हैं। वहां ही अनन्त उसके हाथ में आलोक की राखी बाँधने आता है। वहाँ ही है आँधी पानी, वहाँ ही है उनचास पवनों की उन्मत्तता, वहाँ का कोई हिसाब नहीं मिलता। मनुष्यों के जिस अतिचैतन्य लोक में अभावनीय की लीला चल रही है, उसमें जो सब कर्महीन मनुष्य यातायात करना चाहते हैं, वे मिट्टी को मान्यता प्रदान अवश्य करते हैं, किन्तु इस विपुल अवकाश के ही बीच उनका विहार चलता रहता है। वहाँ की जो भाषा है वही संगीत है। इस संगीत के द्वारा वास्तविक लोक में विशेष कौनसा काम होता है यह मैं नहीं जानता, किन्तु इसके ही काँपते हुए पंखों के आघात के वेग से अति चैतन्य लोक का सिंह द्वारा खुल जाता है।

मनुष्यों की भाषा की तरफ एक बार ध्यान से देखो। उस भाषा में मनुष्य का प्रकाश है, इसीलिए उसके भीतर इतना हास्य रहता है। शब्द की वस्तु है उसका अर्थ। यदि मनुष्य केवल वास्तव रहता तो उस हालत में उसकी भाषा के शब्दों में केवल शब्द के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रहता। तो उस अवस्था में उसका शब्द केवल खबर ही देता, सुर नहीं देता। किन्तु बहुत से शब्द ऐसे हैं जिसके अर्थपिण्ड के चारो तरफ आकाश का अवकाश है, एक वायु मण्डल है। वे लोग जिस परिभाषा में अपने को बताते हैं, उसकी अपेक्षा वे बहुत अधिक हैं, उन लोगों का इशारा उनकी वाणी की अपेक्षा बड़ा है। इनका परिचय तद्धित प्रत्यय में नहीं है, चित्त प्रत्यय में है। अवकाश वाली इन्हीं बातों को लेकर अवकाश-विहारी कवियों का कारोबार है। इस अवकाश के वायुमण्डल में ही विभिन्न रंगों की ज्योति का रंग प्रकट करने का सुयोग है। इसी खाली अंश में ही सभी छन्द तरह-तरह की भंगियों से हिल्लोलित होते हैं।

ये सब अवकाश-बहुल रंगीन शब्द यदि न रहते तो बुद्धि को कोई हानि नहीं पहुँचती, किन्तु हृदय तो प्रकाश के बिना छाती के फट जाने से मर जाता। अनिर्वचनीय को लेकर उसका प्रधान कारोबार चलता है। इस कारण अर्थ की आवश्यकता उसे साधारण रहती है। बुद्धि की आवश्यकता गति में है, किन्तु हृदय की आवश्यकता नृत्य में है। गति का लक्ष्य है एकाग्र होकर प्राप्त करना। नृत्य का लक्ष्य है, विचित्र होकर प्रकाश करना। भाड़ में भीड़ लगाकर भी हम चल सकते हैं, किन्तु भीड़ में नृत्य नहीं किया जा सकता। नृत्य के चारों तरफ अवकाश चाहिये। इसीलिए हृदय अवकाश का दावा करता है, बुद्धिमान उसके उस दावे को अवास्तव और तुच्छ कहकर उड़ा देता है।

मैं वैज्ञानिक नहीं हूँ, किन्तु बहुत दिनों तक छन्दों से सम्पर्क रखकर उनका उपयोग किया है, इस कारण मैं छन्द का तत्व कुछ समझता हूँ। छन्द के जिस अंश को यति कहते हैं, अर्थात् जो खोखला है, अर्थात् छन्द का वस्तु-अंश जहाँ नहीं है, वहाँ ही छन्द का प्राण रहता है—जिस तरह पृथ्वी का प्राण उसकी मिट्टी में नहीं है, उसकी हवा में ही है। अंग्रेजी में यति को पेयूज कहते हैं; किन्तु पेयूज शब्द से एक अभाव की सूचना मिलती है, यति वह अभाव नहीं है। सभी छन्दों का भाव ही उस यति में है। क्योंकि यति छन्द को रोक नहीं देता, उसे नियमित कर देता है। छन्द जहाँ-तहाँ रुकता है, वहाँ ही उसका इशारा फूट उठता है, वहाँ ही वह विश्वास छोड़कर अपना परिचय देकर बच जाता है।

इस प्रमाण के द्वारा मैं विश्वास करता हूँ कि विश्व-रचना में केवल जो सब यति या विरामस्थल दिखाई पड़ते हैं, उनमें शून्यता नहीं है, वहाँ ही विश्व का प्राण काम कर रहा है। सुनता हूँ अणु-परमाणु में केवल छिद्र ही है। मैं निश्चित रूप से जानता हूँ, उन छिद्रों के ही बीच विराट का अवस्थान है। छिद्र जितने हैं वे ही मुख्य हैं, वस्तुएँ गौण हैं। जिसको हम शून्य कहते हैं, वस्तुएँ उसकी ही सुश्रान्त लीला हैं। वह शून्य ही

उन्हें आकार दे रहा है, प्राण दे रहा है। आकर्षण-विकर्षण तो उसी शून्य की कुश्ती के दाँव पेच हैं। जगत् का वस्तु व्यापार उसी शून्य का, उसी महापति का परिचय है। इस विपुल विच्छेद के ही भीतर से जगत् के समस्त योग साधन हो रहे हैं—अणु के साथ अणु का, पृथ्वी के साथ सूर्य का, नक्षत्र के साथ नक्षत्र का। उस विच्छेद महासमुद्र में मनुष्य तैर रहा है इसीलिए मनुष्य की शक्ति है, मनुष्य का ज्ञान है, मनुष्य की सभी लीला-क्रीड़ाएँ हैं। यह महा-विच्छेद यदि वस्तु में ठोस होकर भर जाय तो अत्यन्त निविड़ मृत्यु सुनिश्चित है।

मृत्यु और कुछ भी नहीं है, वस्तु जब अपना अवकाश खो देती है, तब उसकी ही मृत्यु हो जाती है। तब वस्तु जिस परिमाण में रहती है, केवल उसी परिमाण में ही रहती है उससे अधिक नहीं। प्राण वही महा-अवकाश है, जिसको अवलम्ब न करके वस्तु अपने आपको, केवल आप ही अतिक्रम करके चल सकती है।

वस्तुवादियों की धारणा है कि अवकाश निश्चल है, किन्तु जो लोग रस के रसिक हैं, वे जानते हैं कि वस्तु ही निश्चल है, अवकाश ही उसको गति देता है। युद्ध क्षेत्र में सेना को अवकाश नहीं रहता, वे कन्धे से कन्धा मिलाकर व्यूह रचना करके चलते हैं। वे मन में सोचते हैं, हमलोग ही युद्ध कर रहे हैं।' किन्तु जो सेनापति अवकाश में निमग्न होकर दूर से स्तब्ध भाव से देखता रहता है, सेनाओं का सब चलना उसके ही भीतर है। निश्चल का जो भयंकर चलना है, उसकी द्रुतगति को यदि तुम देखना चाहते हो तो देखो उस नक्षत्रमण्डल को। देखो। वे किस तरह चक्कर लगाने में तत्पर हैं। और भी देखो युग-युगान्तर से चलनेवाले ताण्डव-नृत्य में। जो नाच नहीं रहे हैं उनका ही नाचना इन सब चञ्चलताओं में निहित है।

मुझे इतनी बातें कहने की जरूरत इसलिए पड़ी कि, कविशेखर कालिदास ने जिस आषाढ़ को अपने मन्दाक्रान्त छन्दों की माला पहनाकर

वरण कर लिया है उसको कार्यव्यस्त मनुष्य 'आषाढ़ का मनगढ़न्त गप्प' कहते हैं और उसके प्रति अवज्ञा प्रकट करते हैं। वे समझते हैं कि, यह बादलों से घिरा हुआ, वर्षणरत मास सभी कामों के बाहर है, इसके छायावृत समय में जो बैठकें होती हैं उनमें केवल निरर्थक बातें ही चलती हैं। उनका यह मनोभाव अनुचित नहीं है। जो दल सभी कामकाजों के बाहर पड़ा हुआ है और वह जिस अहेतुकी स्वर्ग सभा में आसन जमाकर निरर्थक बातों का अमृत पी रहा है, यदि उसी सभा के लिए किशोर आषाढ़ ने अपने लटकते हुए कुन्तल में नवमालती की माला लपेटकर, नीलकान्त मणि की प्याली भर देने का भार अपने ऊपर ले लिया हो, तो, स्वागत, हे नवघनश्याम! हम तुमको अभिवादन करते हैं। आओ आओ, संसार में जितने निकम्मे लोग हो, आ जाओ। आओ, आओ, भावों के भावुक, आ जाओ। रस के रसिक, आ जाओ।

आषाढ़ का मृदङ्ग बज रहा है, आओ, आओ पागलों के दल, नृत्य के निमित्त तुम लोगों की बुलाहट हुई है। विश्व की चिरविरहवेदना का अश्रुप्रवाह आज खुल गया है, आज उसने निषेध नहीं माना। आओ हे अभिसारिका, कामकाज के संसार का किवाड़ बन्द हो गया है, बाजार के रास्ते में मनुष्य दिखाई नहीं पड़ते हैं, अचानक आनेवाली बिजली की उजियारी में तुम आज यात्रा के लिए निकल पड़ोगे—वन की अन्तिम सीमा से, जहाँ चमेली के खिले फूल की सुगन्ध भरी हुई है, आनेवाली सहज हवा के द्वारा तुम्हारी बुलाहट हुई है—किस छाया निकुञ्ज में बहु युग की चिरजाग्रत प्रतीक्षा बैठी हुई है।

सोने की सखाई

पुरानी कहानियों में वर्णन आया है कि, राक्षस के जादू से राजकुमारी नींद में पड़ी हुई है। जिस पुरी में वे हैं वह सोने की पुरी है। जिस पलंग पर वे सो रही हैं, वह सोने का बना है, सोना-माणिक के गहनों से

उनका शरीर भरा हुआ है। किन्तु कोई आकर उनकी नींद तोड़ न दे इस आशंका से उनके लिए कड़े पहरे की व्यवस्था की गयी है। इसमें दोष ही क्या है! दोष यह है कि, चेतना का अधिकार तो बहुत बड़ा है। सचेतन को यदि कहा जाय कि 'तुम केवल इतने ही के भीतर चिरकाल पड़े रहो, इससे एक कदम भी बाहर मत जाओ, तो इससे उसके चैतन्य का अपमान करना ही होता है। नींद में सुला देने की सुविधा यह है कि, उससे शरीर का प्राण टिका रहता है, किन्तु मन का वेग या तो बिलकुल ही बन्द हो जाता है, अथवा वह अद्भुत स्वप्न के पथहीन और लक्ष्यहीन अन्धलोक में विचरण करता है।

हमारे देश की गीतिकला की दशा ऐसी ही है। वह मोहराक्षस के हाथ में पड़कर बहुत दिनों से सोयी पड़ी है। जिस कमरे में या जिस पलंग की थोड़ी सी जगह में इस सुन्दरी की स्थिति है, उसके ऐश्वर्य की सीमा नहीं है। चारों तरफ कारीगरी है, वह कितनी सूक्ष्म है, कितनी विचित्र है। जिन दासियों पर रखवाली का भार है उनकी आँखों में नींद नहीं है, वे सैकड़ों वर्षों से आने-जाने के सभी मार्गों को अगोरती हुई बैठी हुई हैं, इस शंका से कि, बाहर से कोई आगन्तुक आकर नींद न तोड़ दे।

इसका फल यह हुआ है कि, जो काल चल रहा है, उसके गले में राजकन्या माला नहीं पहना सकी है, प्रतिदिन के नये-नये व्यवहारों के साथ उसका कोई सम्पर्क नहीं है। वह अपने सौन्दर्य में बन्दी है, ऐश्वर्य में अचल है।

किन्तु उसका जितना ही ऐश्वर्य जितना ही सौन्दर्य क्यों न रहे, यदि उसमें गतिशक्ति न रहे तो उस हालत में चलने वाला काल उसका भार ढोने को राजी नहीं होता। एक दिन लम्बी साँस छोड़कर पलंग के ऊपर अचला को सुलाकर वह अपने मार्ग से चला जाता है, तब काल के साथ कला का विच्छेद उपस्थित होता है।

हमलोग स्पष्ट ही देख रहे हैं, हमारे देश में गान नामक चीज का चलना रुका हुआ है। उस्ताद लोग कह रहे हैं, 'यह गान नामक चीज तो चलने के लिए नहीं है, वह बैठक खाने में बैठी रहेगी, तुम लोग आकर 'सम' के समीप खूब जोर से सिर हिला जाओगे।' किन्तु मुश्किल यह है कि, हमलोगों का बैठक खानेवाला युग चला गया है, अब हम-लोगों के लिए विश्राम करने की जगह है मुसाफिर खाना। जो कुछ स्थिर पड़ा हुआ है उसके प्रति प्रेम रहने के कारण हमलोग स्थिर न रह सकेंगे। हम जिस नदी से नाव चलाते हुए जा रहे हैं वह नदी चल रही है, यदि नाव चलना बन्द कर दे, तो दामी नाव होने पर भी उसको छोड़ ही देना पड़ेगा।

संसार में अस्थावर दो श्रेणी के मनुष्य हैं, इस कारण वर्तमान अवस्था भली है या बुरी इसके बारे में मतभेद अवश्य रहेगा। किन्तु मत को लेकर मैं क्या करूँगा। जहाँ एक दिन सूखी जमीन थी, वहाँ यदि आज जल हो भी गया हो तो वहाँ के लिए मूल्यवान जलपान की अपेक्षा, साधारण केलों का बेड़ा ही अच्छा काम देता है।

पचास वर्ष पहले एक दिन ऐसा था, जब बड़े-बड़े गायक, वादक दूर देशों से कलकत्ता शहर में आते थे। धनवानों के घरों में उनकी मजलिस जमती थी। गलों का मर्म समझने वाले और ठीक समय पर प्रशंसात्मक समर्थन करने वालों की संख्या भी कम नहीं रहती थी। अब हमारे शहर में वक्तृता सभाओं का अभाव नहीं है, किन्तु गान की मजलिस बन्द हो गयी है। समस्त तान-मान-लय के साथ योग रखकर बैठकी गानों को पूर्ण रूपसे समझ सकें, आदर कर सकें, ऐसे मर्मज्ञ युवक वर्तमान काल में बहुत ही कम दिखाई पड़ते हैं।

'अब चर्चा ही नहीं होती' कहकर जबाब देने से मुझे सन्तोष न होगा। मन नहीं है इसीलिए चर्चा नहीं होती। अकबर का राज्य चला गया; यह बात हमें माननी पड़ेगी। वह राज्य बहुत अच्छा था। किन्तु

क्या किया जाय—वह अब नहीं है। फिर भी गानों के द्वारा वह राज्य बना रहेगा, यह बात कहना अनुचित होगा। मेरा यह कथन नहीं है कि अकबर के युग का गान लुप्त हो जायगा—किन्तु मेरा तात्पर्य यह है कि वर्तमान काल के साथ सम्पर्क रखकर उसे टिकना पड़ेगा। वह वर्तमान काल का मुख बन्द कर दे और अपनी ही पुनरावृत्ति को अनन्त काल तक जारी रख सके, यह तो असम्भव ही है।

साहित्य की तरफ से उदाहरण देने से मेरी बात स्पष्ट हो जायगी। आज तक यदि हमारे साहित्य में कवि कङ्कणचण्डी, धर्ममङ्गल, अन्नदा-मङ्गल, मनसा-विसर्जन की ही पुनरावृत्ति बराबर चलती रहती तो साहित्य में क्या दशा होती? पन्द्रह आना मनुष्य साहित्य पढ़ना छोड़ ही देते। बंगला भाषा की सभी कहानियाँ ही यदि वासवदत्ता कादम्बरी के साँचे में ढाल दी जातीं तो जात नष्ट हो जायगी की धमकी देकर बल पूर्वक उन कहानियों को पढ़ाना पड़ता।

कवि कङ्कणचण्डी, कादम्बरी की मैं निन्दा नहीं करता। साहित्य की पंक्ति में चिरकाल से ही उनको स्थान प्राप्त है, किन्तु चलने के रास्ते की सारी जगह छेद कर यदि वे ही अड्डा जमा बैठेंगे तो फिर वह रास्ता निरर्थक हो जायेगा। फलतः सभा स्थल में केवल तकिया पड़ा रह जायगा, कोई मनुष्य वहाँ न रहेगा।

बङ्किम सात समुद्र पार के राजपुत्र को हमारी साहित्य राजकन्या के पलंग के सिरहाने ले आये। उन्होंने ज्योंही सोने की सलाई स्पर्श किया त्योंही विजय-वसन्त, लैला-मजनू की तरह हाथी के दाँत पलंग पर सोयी हुई राजकुमारी जाग उठी। प्रचलित काल के साथ उनका माल्य-परिवर्तन हो गया।

जो लोग मनुष्यत्व की अपेक्षा कौलीन्य को बड़ा मानते हैं, वे कहेंगे, वह राजकुमार तो विदेशी है। वे अब भी कहते हैं, यह सब ही कुछ नहीं है। यथार्थता यदि कुछ हो, तो वह उस कवि कङ्कणचण्डी में है, क्योंकि

यह हम लोगों का असल माल है। उनकी यह बात ही यदि सच हो तो उस हालत में यह कहना ही पड़ेगा कि असल वस्तु-तन्त्र को मनुष्य पसन्द नहीं करता। मनुष्य उसी को चाहता है जो वस्तु पुरानी ही जगह पर अड़ी नहीं रहती, जो जीवन के साथ-साथ चलती रहती है, जिससे उसको मुक्ति का स्वाद मिलता है।

विदेशों की सोने की सलाई लगने से जो चीज तैयार हुई है, वह तो विदेशी नहीं हुई, वह तो हमारे प्राण की प्रिय चीज बन गयी है। परिणाम यह हुआ है कि जिस बंगला भाषा को, और साहित्य को एक दिन आधुनिक दल छूना नहीं चाहता था, अब उसको सभी व्यवहार में ला रहे हैं, गौरव अनुभव कर रहे हैं। फिर भी, ध्यान पूर्वक देखने से विदित हो जायगा कि गद्य-पद्य सभी विषयों में साहित्य की रूपरेखा प्राचीन काल से पूर्णतः बदल गयी है। जो लोग इस परिवर्तित साहित्य को जातिच्युत कहकर निन्दा करते हैं, वे उसका व्यवहार किये बिना रह नहीं सकते।

समुद्र पार का राजपुत्र आकर मनुष्य के मन को सोने की सलाई से छूकर जगा देता है, यह मानव इतिहास में चिर दिन से होता आया है, अपनी पूर्ण शक्ति पाने के लिए विषमता के आघात की प्रतीक्षा मानव को करनी ही पड़ती है। कोई भी सभ्यता केवल आप ही आप तैयार नहीं हुई है। ग्रीस की सभ्यता की जड़ में दूसरी सभ्यता थी, और ग्रीस बराबर इजिप्ट और एशिया से धक्का खाता आया है। भारतवर्ष में द्राविड़ विचार धारा के साथ आर्य-विचार धारा का जो संघात और सम्मिलन हुआ वही भारतीय सभ्यता की उत्पत्ति का मूल उपकरण है।

इसके अतिरिक्त यूनान, रोम, ईरान की भी कुछ छाप पड़ने से इसके विकास में किंचित् सहायता मिली। यूरोपीय सभ्यता में जिस युग को पुनरभ्युदय का युग कहते हैं, वह भी पूर्णतः अन्य देशों और अन्य कालों के संघात का युग है। मनुष्य का मन बाहर से उकसाये जाने पर ही अपने अन्तर को यथार्थ रूप से प्राप्त करता है और उसका परिचय तब

मिलता है, जब हम देखते हैं कि वह अपने बाहर के जीर्ण घरों को तोड़कर अपना अधिकार बढ़ाता जा रहा है। इस अधिकार विस्तार को एक श्रेणी के लोग दोष देते हैं, वे कहते हैं, उसके द्वारा हमने आपको खो दिया। वे नहीं जानते कि, अपने को अग्रसर करना अपने को खो देना नहीं है, क्योंकि बुद्धि विवेचना से ही मनुष्य अग्रसर होता है।

सम्प्रति अपने देश में हम चित्रकला के नवजीवन लाभ का जो लक्षण देख रहे हैं, उसके मूल्य में भी उसी सागर पार के राजकुमार की सुनहली सलाई है। सलाई से स्पर्श हो जाने की प्रथम अवस्था में जब तक नींद का नशा पूर्ण रूप से नहीं टूट जाता तब तक हम लोग अपनी शक्ति का पूर्ण रूप से अनुभव नहीं करते, तब अनुकरण ही बड़ा हो उठता है; किन्तु नशा के टूट जाने के साथ ही हम अपनी शक्ति के द्वारा चल सकते हैं। अपनी शक्ति से चलने का एक लक्षण यह है कि, तब हम दूसरों के मार्ग से भी अपनी ही शक्ति से चल सकते हैं। पथ बहुत से हैं; अभिप्राय अपना है, शक्ति अपनी है। यदि पथ की विभिन्नताओं को हम हटा दें, यदि एक ही निर्धारित पक्का रास्ता रह जाय, तो उस हालत में अपनी इच्छा के अनुसार उन्नति करने की स्वतन्त्रता नहीं रहती, उस अवस्था में हमें मशीन के पहिये की तरह चलना पड़ता है। उस मशीन के पहियेवाले पथ को पहिये का ही खास रास्ता रहकर गौरव अनुभव करने के समान अद्भुत प्रहसन संसार में दूसरा नहीं है।

हमारे साहित्य में, चित्रों में समुद्र पार का राजकुमार आ गया है, किन्तु संगीत नहीं पहुँचा है। इसीलिए आज भी संगीत के विकाश में देर हो रही है। तो भी हमलोगों का जीवन जाग उठा है, विकसित हो उठा है। इसीलिए संगीत की सीमा डगमगा रही है। यह बात मैं नहीं कह सकता कि, आधुनिक लोगों ने गान को एकदम बन्द ही कर दिया है। किन्तु वे जिस गान का व्यवहार करते रहे हैं, जिस गान में आनन्द पा रहे हैं वह गान जाति को भ्रष्ट कर देनेवाला गान है। उसमें शुद्धि-अशुद्धि का विचार नहीं है।

कीर्तनों से, साधुओं के भक्तिमूलक गानों से और हमारी बैठकों में जो गान होते हैं इन सभी के मिश्रण से जो चीज आज तैयार हो रही है वह विधिविरुद्ध है। उस्ताद लोग उसकी निन्दा कर रहे हैं। अवश्य ही उसमें निन्दा योग्य बातें बहुत हैं। किन्तु अनिन्दनीयता ही सर्वापेक्षा बड़ा गुण है, ऐसी कोई बात नहीं है। जीवनी-शक्ति, शिवजी की तरह अनेक विषों को हजम कर जाती है। लोगों को जो चीज अच्छी लग रही है, जिसको सुनते समय नींद के झोंके नहीं आते, यह कोई कम बात नहीं है। अर्थात् गायन की पंगुता दूर हो गयी है, उसने चलना शुरू कर दिया है। प्रथम चाल सर्वांग सुन्दर नहीं है, उसकी अनेक भंगिमा हास्यकर हैं और कुरूप हैं, किन्तु सबसे बड़ी आशा की बात यह है कि उसने अब चलना शुरू कर दिया है, वह बन्धन नहीं मानता। जीवन के साथ सम्बन्ध ही उसका सबसे बड़ा, सम्बन्ध है। प्रथा के साथ सम्बन्ध रखना महत्वसूचक नहीं है यह उक्ति वर्तमान काल के गायन विषयक अस्थिर वातावरण में सुनाई पड़ने लगी है। उस्ताद लोगों की नियम सम्बन्धी विशेषताएँ उसको अब बाँधकर न रख सकेंगी।

द्विजेन्द्रलाल के गानों के सुर में अंग्रेजी सुरका स्पर्श लग गया है इस कारण कोई-कोई उसे हिन्दू संगीत से बहिष्कृत कर देना चाहते हैं। यदि द्विजेन्द्रलाल ने हिन्दू संगीत को विदेशी सोने की शलाका से छू दिया हो तो सरस्वती अवश्य ही उनको आशीर्वाद देंगी। हिन्दू संगीत नामक यदि कोई पदार्थ हो, तो वह अपनी जाति को बचाकर चलता रहे क्योंकि उसमें जीवन नहीं है, उसमें केवल जाति ही है। सच पूछिये तो हिन्दू संगीत को कोई भय नहीं है। विदेशों के सम्पर्क से वह अपने को बड़े रूप में ही पा जायगी। एक चित्त के साथ दूसरे चित्त का संघात आज लग गया है— उस संघात से सत्य उज्ज्वल न होगा, नष्ट ही हो जायगा, ऐसी आशंका जो भीरु करता है, जो यह समझता है कि सत्य को अपनी दादी जी की फटी-पुरानी कँमरी से छिपा रखने से ही सत्य टिका रहेगा, तो वह वर्तमान

समय में जितना ही आस्फालन क्यों न करे, आगे उसको मार्ग छोड़कर चला जाना ही पड़ेगा। क्योंकि, जो सत्य है वह केवल हिन्दुओं का ही सत्य है, रुई के फाहे से पुस्तकीय विधिरस बूँद-बूँद पिलाकर उसको जीवित रखने की आवश्यकता नहीं है। चारो तरफ से विभिन्न मनुष्यों द्वारा उकसाये जाने से ही वह अपनी शक्ति को प्रकट कर सकेगा।

छवि के अङ्ग

हमारा सृष्टि तत्त्व कहता है—एक ने कहा—बहु होऊँगा, इसी प्रकार यह सृष्टि हुई।'

एक में भेद उपस्थित हुआ उसके बाद रूप आ गया। तो इस हालत में रूप के अन्तर्गत दो परिचय रहना चाहिये—बहु का परिचय जहाँ भेद है; और 'एक' का परिचय जहाँ मेल है।

संसार में रूप के अन्दर हमलोग केवल सीमा को नहीं देखते, संयम को भी देखते हैं। सीमा को अन्य चित्रों की सीमा से पृथक् रखकर देखा जाता है और संयम को उन सभी में मेल रखकर देख सकते हैं।

रूप एक तरफ अपने को मान रहा है और दूसरी तरफ और सभी को मान रहा है, इसी कारण वह टिका रहता है।

इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है, सूर्य और चन्द्र, द्युलोक भूलोक, एक ही के शासन से विशेष रूप से धृत हैं। सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, भूलोक अपनी-अपनी सीमा में खण्डित हैं, बहु हैं, किन्तु तो भी उनके भीतर कहीं मुझे वही 'एक' दिखाई पड़ रहा है, जहाँ प्रत्येक अपने-अपने वजन को ठीक रखकर चल रहे हैं, जहाँ प्रत्येक संयम के शासन से नियन्त्रित हैं।

भेद के द्वारा बहु का जन्म होता है किन्तु मेल के द्वारा बहु की रक्षा होती है। जहाँ एक को अपना अस्तित्व सुरक्षित रखना है, वहाँ प्रत्येक को अपने परिमाण को ठीक रखकर अपने वजन को बचाकर चलना पड़ता है। जगत् में जो भी चीजें हैं उनको हम उनके रूपों को पाते हैं, उनका

जो परिणाम है उसी में संयम की रक्षा की गयी है, संयम मङ्गलप्रद है, वही संयम सुन्दर है। शिव तो यही हैं—संयमी हैं।

हमलोग जब सैन्यदल को चलते हुए देखते हैं, तब एक तरफ तो हम देखते हैं कि प्रत्येक ही अपनी सीमा द्वारा स्वतन्त्र है, और दूसरी तरफ यह भी देखते हैं कि प्रत्येक एक निर्दिष्ट माप रखकर, वजन रखकर चल रहा है। उसी जगह उसी परिमाण की सुषमा के भीतर से हम जान जाते हैं कि इनके भेद के भीतर भी 'एक' प्रकाश पा रहा है। वह 'एक' जितना ही परिस्फुट रहता है, यह सैन्यदल उतना ही सत्य बना रहता। बहु जब तितर-बितर हो जाता है, इधर-उधर अव्यवस्थित रीति से भीड़ लगाकर परस्पर ठेलाठेली करने लगता है, अन्तमें एक दूसरे को पैरों के नीचे दौड़ता हुआ चलने लगता है, तब हम 'बहु' को ही देखते हैं, 'एक' को नहीं देख पाते, अर्थात तब हम सीमा को देखते हैं 'भूमा' को नहीं देखते—फिर भी, भूमा का यही रूप कल्पना रूप है, आनन्द रूप है।

केवल बहु को, अर्थात् सभी को जानने की चेष्टा से, बहु को प्रेम के द्वारा वश करने के प्रयत्न से, बहुत कर्मों को सम्पन्न करने के उद्योग से मनुष्य को क्लेश होता है, क्लान्ति मिलती है। इसी कारण मनुष्य समस्त जानने, चाहने [ब्रह्म को] पाने और करने की चेष्टा में बहु के भीतर के 'एक' को ही ढूँढ रहा है—अन्यथा उसका मन नहीं मानता, उसको सुख नहीं रहता, उसका प्राण नहीं बचता। मनुष्य अपने विशिष्ट ज्ञान के बहु में जब एक को प्राप्त करता है, तब वह नियम को प्राप्त करता है, दर्शन द्वारा बहु के बीच जब वह एक को पा जाता है, तब वह तत्व को प्राप्त करता है। साहित्य में और शिल्प में जो बहु है इसमें जब वह एक को पा जाता है, तब वह सौन्दर्य प्राप्त करता है। समाज में जो बहु है उसमें से जब वह 'एक' को पा जाता है, तब कल्याण को प्राप्त करता है। इसी तरह मनुष्य बहु को लेकर तपस्या कर रहा है 'एक' को पाने के लिए।

यह मेरी भूमिका हुई। इसके बाद यह समझ लेना चाहिये कि हमारा

शिल्प-शास्त्र, चित्र-कला के सम्बन्ध में क्या कहता है।

वह शास्त्र कहता है—चित्र के छः अङ्ग हैं। १—रूप भेद, २—प्रमाण, ३—भाव, ४—लावण्य, ५—सादृश्य, और ६—वर्णिका भंग।

"रूप भेदाः"—भेद को लेकर शुरू होते हैं, पहले ही बता चुका हूँ, भेद ही रूप की उत्पत्ति है। पहले ही रूप अपनी बहु विचित्रता को लेकर ही हमारी दृष्टि में पड जाता है। इसी कारण चित्र का आरम्भ हुआ रूप के भेद से, एक की सीमा से दूसरी सीमा के पार्थक्य से।

किन्तु केवल भेद से सिर्फ वैषम्य ही दिखाई पड़ता है। उसके साथ यदि सुषमा को न दिखाया जाय, तो फिर चित्र-कला भूतों का कीर्तन हो जाता है। जगत् के सृष्टि कार्य में वैषम्य और सौषम्य रूप में एकदम शरीर- शरीर से सटे हुए है, हमारे सृष्टि कार्य मे यदि उसकी अन्यथा होती है तो वन-सृष्टि ही नहीं होती, अना-सृष्टि हो जाती है।

हवा जब स्तब्ध रहती है, तब वह शुरू से अन्त तक एक बनी रहती है। उसी एक को वीणा के तार से आघात करो वह टूटकर बहु हो जायेगा। इस बहु में जो ध्वनियाँ निकल पड़ती हैं, वे जब एक दूसरी के साथ वजन का मेल रखकर चलती हैं तब वे संगीत का रूप धारण करती हैं, तभी एक के साथ दूसरी का सुनियत योग हो जाता है, तभी समस्त 'बहु' अपनी विचित्रताओं के भीतर से एक ही संगीत को व्यक्त करता है। ध्वनि ही से रूप व्यक्त होता है, और ध्वनि की जो सुषमा है वही सुन्दर है और वही प्रमाण है। ध्वनि में भेद है, सुर में 'एक' है।

इसी कारण शास्त्र में चित्र के छः अंगों को बतलाते समय प्रारम्भ में 'रूप भेद' के ही स्थान में उसके साथ ही साथ 'प्रमाणानि' अर्थात् परिमाण नामक चीज को एकदम युग्म रूप में साज दिया है, इससे हम समझ सकते हैं कि, भेद न रहने से मिलन नहीं होता, इसी कारण भेद है। भेद के लिए भेद नहीं है। सीमा के न रहने से सुन्दरता नहीं रहती, इसीलिए सीमा है, नहीं तो अपने में ही सीमा की सार्थकता नहीं है। इसी

बात को चित्र में बताना पड़ेगा। रूप को उसके परिमाण के अनुसार खड़ा करना चाहिये। क्योंकि, अपने सत्य भाव के अनुसार जो चलने लगा, अर्थात् चारो तरफ की माप के साथ जिसका मेल बैठ गया, वही सुन्दर है। जो रूप प्रमाण नहीं मानता वही कुरूप है, समग्र का विरोधी है। रूप के सम्बन्ध में जो बातें हैं, ज्ञान के सम्बन्ध में भी वे ही हैं। जो युक्ति, प्रमाण को नहीं मानती वही है कुयुक्ति। अर्थात् समस्त के मापदण्ड के अनुसार जिसकी माप कम-अधिक हो जाती है, समस्त के तुलादण्ड से जिसके वजन में गड़बड़ी हो जाती है, वही मिथ्या कहलाकर पकड़ में आ जाती है। केवल अपने में आप ही तो कोई सत्य नहीं हो सकता, इसीलिए- युक्ति शास्त्र के अनुसार प्रमाण का अर्थ है दूसरे के द्वारा एक का माप निश्चित करना। इसीलिए हम देखते हैं कि सत्य और सुन्दर का एक ही धर्म है। एक तरफ से वह रूप की विशिष्टता से चारों तरफ से पृथक् है और अपने में ही विचित्र है, और दूसरी तरफ वह प्रमाण की सुषमा से, सभी के साथ और अपने भीतर सामञ्जस्य से मिला हुआ है। इसीलिए, जो लोग गम्भीरता से समझ गये हैं उन्होंने कहा है सत्य ही सुन्दर है, सुन्दर ही सत्य है।

चित्र के छः अङ्गों की प्रारम्भिक बात हुई—'रूपभेदाः प्रामाणानि'। किन्तु यह तो बहिरङ्ग हुआ, एक अन्तरङ्ग भी तो है।

क्योंकि मनुष्य तो केवल आँखों से नहीं देखता। आँखों के पीछे उसका मन रहता है। आँखें ठीक जिसको देख रही हैं, मन उसके ही प्रतिबिम्ब को देख रहा है, ऐसी कोई बात नहीं है। आँखों के उच्छिष्ट से ही मन तैयार हुआ है, यह बात मानी नहीं जा सकती। आँखों के चित्र में, मन अपने चित्र को जब जोड़ देता है, तभी वह चित्र मनुष्यों के लिए सम्पूर्ण रूप में प्रकट होता।

इसीलिए शास्त्र 'रूपभेदाःप्रमाणानि' में सङ्ग के बहिरंग को बताकर अन्तरङ्ग के बारे में कहता है—'भावलावण्य योजनं'। चेहरे के भाव और

लावण्य को जोड़ देना होगा, क्योंकि रंग की कारीगरी तो मामूली बात है, चित्र बनाना चाहिये—चित्र का प्रधान कार्य ही चित् के द्वारा सम्पन्न होता है।

भाव कहने से कौन-सी बात समझ में आती है यह हमलोगों को एक तरह से अच्छी तरह मालूम है। इसीलिए उसको समझाने की चेष्टा में जो कुछ कहा जायगा, उसको ही समझना कठिन हो जायगा। स्फटिक जिस प्रकार बहुत से कोणों को लेकर दानेदार रूप में उपस्थित होता है, उसी तरह 'भाव' शब्द बहुत से अर्थों को व्यक्त करनेवाला हो गया है। इन सब बातों में कठिनाई यह पड़ती है कि, इनके अर्थों को हम सर्वदा पूर्ण रूप से व्यवहार में नहीं लाते, आवश्यकता के अनुसार हम इनके अर्थों की छटा को भिन्न श्रेणियों में सजाकर और कुछ-कुछ छोड़कर या हटाकर तरह-तरह के कामों में लाते हैं। भाव कहने से Feelings, भाव कहने से Idea, भाव कहने से Characteristic, भाव कहने से Suggestion, ऐसे ही कई प्रकार के अर्थ व्यक्त होते हैं।

यहाँ भाव कहने से अन्तर का रूप समझा जा रहा है। मेरा भाव एक तरह का है, तुम्हारा भाव एक तरह का है, उसी भाव के अनुसार मैं अपनी तरह हूँ, तुम अपनी तरह हो। रूप का भेद जैसे बाहर का भेद है, भाव का भेद वैसे ही अन्तर का भेद है।

रूप के भेद के सम्बन्ध में जो बात कही गयी है वही बात भाव के भेद के भी सम्बन्ध में लागू होती है। अर्थात् वह यदि केवल एक ही तरफ झुक कर भेद को ही प्रकट करता रहे तो, उस हालत में वह बीभत्स हो उठता है। उसको लेकर सृष्टि नहीं होती, प्रलय ही होता है। भाव जब अपने सत्य वजन को मानता है, अर्थात् अपने चारो तरफ को मानता है, विश्व को मानता है, तभी वह मधुर होता है। रूप का वजन जिस प्रकार उसका प्रमाण है, भाव का वजन उसी प्रकार उसका लावण्य है।

किसी को यह न समझना चाहिये कि भाव शब्द केवल मनुष्य के

ही सम्बन्ध में उपयोग में आता है। मनुष्य का मन अचेतन पदार्थ के भीतर भी एक अन्तर का पदार्थ देखता है। वह पदार्थ उस अचेतन के अन्दर वस्तुतः मौजूद है, या हमारा मन उसको वहाँ आरोपित करता है, यह तर्क उठाना तत्त्वशास्त्र का विषय है। मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है। इतना मान लेने से ही काम चल जायगा, कि मनुष्य का मन स्वभावतः ही सभी चीजों को अपनी रुचि के अनुसार तैयार कर लेना चाहता है।

इसी कारण जब हम कोई चित्र देखते हैं तब यही प्रश्न करते हैं, "इस चित्र का भाव क्या है?" अर्थात् इसमें तो मैंने हाथ के कामों की निपुणता देखी, आँखों से देखने की विचित्रता देखी, किन्तु इसके भीतर चित्त का कौन रूप दिखाई पड़ रहा है—इसके भीतर से चित्रकार का मन द्रष्टा के मन के पास कौन लिपि भेज रहा है। मैंने एक वृक्ष देख लिया, किन्तु वृक्ष तो मैंने बहुत देखे हैं, इस वृक्ष की आन्तरिक बात क्या है, अर्थात् जिसने बनाया है उसके अन्तर की कौन सी बात इस वृक्ष के भीतर से व्यक्त हो रही है, यदि यह मुझे न मालूम हो सके तो वृक्ष का चित्र बनाने से क्या लाभ हुआ। अवश्य ही उद्भिद् तत्व की पुस्तक में यदि वृक्ष का नमूना देने की जरूरत पड़े तो वह दूसरी बात हुई। क्योंकि वहाँ वह चित्र नहीं है, वह एक उदाहरण है।

हमें केवल रूप, केवल भाव दृष्टिगोचर होते हैं और कुछ भी नहीं। 'मुझे देखो' 'मुझे जानो' इतनी ही उनकी माँग रहती है। किन्तु 'मुझे रक्खो' इस माँग को रखने के लिये कुछ और चाहिये। तरह-तरह की चीजें अपना-अपना रूप लेकर, भाव लेकर, मन के आम दरबार में हाजिर होती हैं। उनमें से किसी को मन कहता है—'बैठो' किसी से कहता है—'अच्छा जाओ।'

जो लोग आर्टिस्ट हैं, उनका लक्ष्य यह है कि, उनका बनाया हुआ पदार्थ मनके दरबार में नित्य आसन प्राप्त कर ले। गुणियों की बनायी

हुई जिन चीजों में रूप अपने प्रमाण से, भाव अपने लावण्य से प्रतिष्ठित होता आया है, वे ही क्लासिकल हुए हैं, वे ही नित्य हुए हैं।

इस कारण चित्र-कला में उस्ताद की उस्तादी; रूप और भाव में उतनी नहीं है, जितनी कि प्रमाण और लावण्य में है। सत्य वजन का यह अन्दाज पुस्तकों की विद्या में पाने का उपाय नहीं है। इसके लिए स्वाभाविक प्रतिभा की आवश्यकता है, शारीरिक वजन का बोध स्वाभाविक हो उठने से ही चलना सहज होता है। तभी हम नयी-नयी बाधाओं में पथ के नये-नये मोड़-घुमावों पर अपने शरीर को अनायास बाहर की अवस्था के साथ तान-लय को मिलाकर चल सकते हैं। यह वजन बोध, यदि बिलकुल ही भीतर की चीज न हो, तो रेलगाड़ी की तरह एक ही निर्दिष्ट रास्ते से यन्त्र के खिंचाव से चलना पड़ता है, एक इञ्च भी दायें-बायें झुकने से सर्वनाश हो जायगा। उसी तरह रूप और भाव के सम्बन्ध में वजन-बोध जिसके अन्तर की चीज है, वही 'नव-नवोन्मेषशालिनी बृद्धि, के मार्ग में कला-सृष्टि को संचालित कर सकता है। जिसमें वह बोध नहीं है, वह डरता हुआ एक ही निर्धारित रास्ते से ठीक एक लाइन से चलकर, चित्रकार और कारीगर बन जाता है। वह सीमा के साथ सीमा का नूतन सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता, इसीलिए नूतन सम्बन्ध मात्र को वह बाग की तरह देखता है।

जो भी हो, इतनी देर में चित्र के षड़ङ्गों में से हमने दो अङ्गों को समझ लिया—बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग। इस बार हम पञ्चम अङ्ग की आलोचना करेंगे, जिसमें बाहर और भीतर पंक्ति में एक होकर मिल गये हैं। उसका नाम 'सादृश्य'। यदि कोई ऐसा समझ ले कि, नकल करने से जो 'सादृश्य' मिलता है, इतनी देर में वही बात आ गयी, तो शास्त्रवचन उनके लिए व्यर्थ हो गया। गाय-घोड़े को, गाय-घोड़े के रूप में चित्रित करने के लिए इतना बड़ा उद्योग पर्व क्यों हुआ ? तो इस हालत में कोई यह बात भी समझ सकते हैं कि, उत्तर गो-गृह में गायों

को चुरा लेने की घटना के ही लिये उद्योग पर्व लिखा गया था, कुरुक्षेत्र युद्ध के लिए नहीं।

सादृश्य के दो अङ्ग हैं। एक है, रूप के साथ रूप का सादृश्य, और दूसरा है भाव के साथ रूप का सादृश्य। एक है बाहर का, दूसरा है भीतर का, किन्तु सादृश्य को मुख्यभाव से बाहर का मान लेने से काम लेने से काम न चलेगा।

जभी रेखा और प्रमाण की बातों को हटाकर भाव लावण्य की चर्चा छेड़ी जाता है, तभी यह बात समझ में आ जाती है कि, गुणी के मन में जो चित्र है, वह प्रधानतः रेखाओं का चित्र नहीं है, वह रस का चित्र है। उसके भीतर एक ऐसी अनिर्वचनीयता है जो प्रकृति में नहीं है। अन्तर के उस अमृत-रस के भाव-चित्र को बाहर दृश्यमान कर सकने से ही रस के साथ रूप का सादृश्य मिलता है, तभी अन्तर के साथ बाहर का मेल हो जाता है, तभी अदृश्य अपना प्रतिरूप दृश्य में देखता है। तरह-तरह के चित्र विचित्र रूपों में तैयार किये गये, किन्तु निपुणता की सीमा नहीं रही, भीतर के रस के चित्र के साथ, बाहर के रूप के चित्र का सादृश्य नहीं रहा। रेखाभेद और प्रमाण के साथ भाव और लावण्य का जोड़ नहीं मिला। या तो रेखा की तरफ कोई त्रुटि रह गयी, अथवा भाव की तरफ एक दूसरे के साथ समता नहीं हुई। वर भी आ गया, कन्या भी आ गयी, किन्तु अशुभ लग्न में मिलन का अर्थ व्यर्थ हो गया। 'मिष्टान्नमितरे जनाः' बाहर के लोगों ने शायद भरपेट पूड़ी मिठाई खाकर खूब जय-जय ध्वनि की, किन्तु अन्तर की खबर जो जानता है, वह समझ गया कि काम चौपट हो गया। आँखों को भुला देने वाली चातुरी में ही ज्यादा लोग डूब जाते हैं, किन्तु रूप के साथ रस का सादृश्य-बोध जिसमें है, आँखों की तिरछी दृष्टि से ही जिस मनुष्य की समझ में यह बात आ जाती है कि, रस ठीक अपना चेहरा रूप में पा गया है या नहीं, वही तो रसिक है। हवा जिस तरह सूर्य की किरणों को चारों तरफ बिखेर देने का

काम करती है, उसी तरह गुणी के बनाये हुए कला सौन्दर्य को लोकालयों में सर्वत्र बिखेर देने का भार उसी रसिक के ऊपर है। क्योंकि जो पूर्णतः पा गया है वह स्वाभावतः ही दूसरों को न देकर रह नहीं सकता—वह जानता है, 'तन्नष्ट' यन्न दीयते (जो नहीं दिया जाता वह नष्ट हो जाता है) सर्वत्र और सर्वदा ही मनुष्य इस मध्यस्थल को मानता है। ये लोग भावलोक के बैंक के संचालक हैं। ये विभिन्न दिशाओं से बहुत से 'डिपाजिट' के रुपये पाते हैं। वह रुपया बन्द कर रखने के लिए नहीं है। संसार में विभिन्न कारबारों में लोग रुपये लगाना चाहते हैं, उनके पास अपना मूलधन यथेष्ट नहीं है। इस बैंकर के बिना उनका काम बन्द हो जाता है।

इसी प्रकार रूप का भेद प्रमाण के द्वारा बाँध दिया गया है। भाव का वेग लावण्य के द्वारा संयत हो गया है, भाव के साथ रूप का सादृश्य, पट के ऊपर सुसम्पूर्ण होकर भीतर-बाहर पूर्ण रूप से मिल गया है—इसी प्रकार सब खत्म हो चला है। इसके बाद और बाकी क्या रह गया।

किन्तु हमारे शिल्पशास्त्र के वचन अभी तक समाप्त नहीं हुए। स्वयं द्रौपदी को वह पार कर गया। पाँच को पार करके जो छः में आ पहुँचा वह है 'वर्णिका भङ्ग', रंग की महिमा है।

यहाँ भारी खटका लग गया। मेरे पास एक गुणी बैठे हुए हैं। उनसे ही यह श्लोक मुझे मिला है। उनसे मैंने पूछा—रूप, अर्थात् रेखा का कारबार जो षड़ाङ्ग के प्रारम्भ में ही है, और यह रङ्ग की भङ्गी है, जिसको सबके अन्त में स्थान मिल गया है, इन दोनों की प्रधानता एक दूसरे की तुलना में कितनी है ?

उन्होंने कहा—बताना कठिन है।

उनके लिए कठिन है जरूर। दोनों के ही ऊपर उनके मन का खिंचाव है, ऐसी हालत में निरासक्त मन से विचार करने के लिए बैठने

का काम उनसे नहीं चल सकता। मैं हूँ अध्यवसायी, इस कारण बाहर से ध्यानपूर्वक निरीक्षण करना मेरे लिए सहज है।

रंग और रेखा इन दोनों को लेकर ही पृथ्वी के सभी रूप हमारी निगाह में पड़ते हैं। इसके भीतर रेखा ही रूप की सीमा को खींच लेती है। सीमा का यह निर्देश ही चित्र का प्रधान अंग है। अनिर्दिष्टता गान में है, गन्ध में है, किन्तु चित्र में यह नहीं रह सकती।

इसी कारण केवल रेखाओं के खींचने से चित्र तैयार हो सकता है, किन्तु केवल रंग पोत देने से चित्र नहीं बन सकता। वर्ण तो रेखा का आनुसङ्गिक है।

सफेद के ऊपर काले का दाग ही चित्र की जड़ है। हमलोग सृष्टि में जो कुछ देख रहे हैं, वह असीम आलोक की सफेदी के ऊपर पड़ा हुआ असीम दाग है। यह दाग प्रकाश के विरुद्ध है, इसीलिए वह प्रकाश के ऊपर खिल उठता है। प्रकाश की अपर विपरीत वस्तु काला है, प्रकाश वक्षःस्थल पर उसका बिहार है।

काला अपने को आप प्रकट नहीं कर सकता। वह तो स्वयं केवल अन्धकार है, दावात की स्याही की तरह सफेद के ऊपर वह दाग ज्यों ही पड़ जाता है, त्यों ही उस मिलन के जरिये वह हमें दिखाई पड़ने लगता है। श्वेत प्रकाश का पट वैचित्र्यहीन और स्थिर है। उसके ऊपर काली रेखा, विचित्र नृत्यों से छन्द-छन्द में चित्र रूप में प्रकट होती जा रही है। जो शुभ्र है, निस्तब्ध है, रजत गिरिनिभ (चाँदी के पर्वत-सी चमकवाला) है, उसकी ही छाती के ऊपर स्याही का पदक्षेप चञ्चल होकर सीमाओं, रेखाओं के जरिये चित्र के बाद चित्र की छाप लगाता रहा है। काली रेखा के उस नृत्य के छन्द को लेकर चित्रकला के 'रूपभेदा प्रमाणानि' हैं। नृत्य के विचित्र विक्षेप रूप के भेद हैं, और उसके छन्दों का ताल ही प्रमाण है।

प्रकाश और काला, अर्थात् प्रकाश और अप्रकाश का द्वन्द्व खूब ही एकान्त है। सभी रंग उसके ही बीच रहकर मध्यस्थता करते हैं। ये

मानो वीणा के अलाप के 'मीड़' हैं—इस मीड़ के द्वारा सुर मानो सुर के अतीत को एक पर्याय से दूसरे पर्याय में इशारे से दिखा देता है, एक भंगी से दूसरी भंगी में सुर अपने आपको अतिक्रमण करके चलता है। उसी तरह रंग की भंगी के द्वारा रेखा अपने आप को अतिक्रमण करके चलती है; रेखा मानो अ—रेखा की तरफ अपना इशारा चलाती रहती है। रेखा नामक चीज सुनिर्दिष्ट है और रंग नामक चीज निर्दिष्ट-अनिर्दिष्ट का सेतु है, वह सफेद काले के बीच के विविध खिंचावों की मीड़ है। सीमा के बन्धनों से बँधी काली रेखा के तार को, सफेद मानों खूब तीव्र रूप से अपनी तरफ खींच रहा है, इसीलिए काला 'कड़ी' से अति कोमल के भीतर से रंग-रंग में असीम को स्पर्श करके चल पड़ा है। इसीलिये कह रहा हूँ, रंग नामक चीज है रेखा और अ—रेखा के बीच की समस्त भंगी। रेखा और अरेखा के मिलन से जिस चित्र की उत्पत्ति है उसी चित्र में इस मध्यस्थ का प्रयोजन है। रेखा-रहित सफेद की छाती पर जहाँ काली रेखा का नृत्य है वहाँ ये सब रंग योगिनी हैं। शास्त्र में इनका नाम सबके अन्त में रहने पर भी इनका काम एकदम कम नहीं है।

पहले ही बता चुका हूँ, सफेद के ऊपर केवल रेखा का चित्र बनता है, किन्तु सफेद के ऊपर केवल रंग से चित्र नहीं बनता। इसका कारण यह है कि, रंग नामक चीज मध्यस्थ है, दोनों पक्षों के बीच के सिवा किसी स्वतन्त्र स्थान में उसका कोई अर्थ ही नहीं रहता।

यह हो गया वर्णिकाभंग।

इस चित्र के छः अंगों के साथ कविता का मेल कैसा है, उसे देखने से ही शायद बात समझने में सहूलियत होगी।

चित्र का स्थूल उपादान जिस तरह रेखा है उसी तरह कविता का स्थूल उत्पादन है वाणी। सैन्यदल की चाल की तरह उस वाणी की चाल में एक वजन, एक प्रमाण मौजूद है, वही छन्द है। यह वाणी

और वाणी का प्रमाण बाहर का अंग है, भीतर का अंग, भाव और माधुर्य है।

इस बाहर के साथ भीतर को मिला देना होगा। बाहर की बातें भीतर के भावों के सदृश होनी चाहिए। ऐसा होने से ही समस्त में मिलकर कविका काव्य, कवि की कल्पना का सादृश्य प्राप्त कर लेगा।

बहिः सादृश्य, अर्थात् जिसको हम देख सकते हैं, उसको ठीक ठीक वर्णन करना कविता की प्रधान चीज नहीं है। कविता का वह लक्ष्य नहीं है, उपलक्ष्य मात्र है। इस कारण वर्णन मात्र ही जिस कविता का परिणाम है, रसिक लोग उस कविता को उच्चश्रेणी की कविता नहीं मानते। बाहर को भीतर का बनाकर देखना और भीतर को बाहर के रूप में व्यक्त करना ही कविता और समस्त आर्ट का मुख्य लक्ष्य है।

सृष्टिकर्ता बिलकुल ही अपनी परिपूर्णता से सृष्टि कर रहे हैं। उनके लिये और कोई उपसर्ग नहीं है। किन्तु बाहर की सृष्टि मनुष्य के भीतर के तार पर आघात लगाकर जब एक मानस पदार्थ को जन्म देती है, जब वह एक रस का सुर सुना देती है, तभी वह फिर स्थिर रह सकती, बाहर प्रकट हो जाने की कामना करती है। यही है मनुष्य की सभी सृष्टियों की मौलिक बात। इसीलिए मनुष्य की सृष्टि में भीतर बाहर का घात-प्रतिघात चलता है। इसीलिए मनुष्य की सृष्टि में बाहर के जगत् का आधिपत्य है। किन्तु यदि एकाधिपत्य रहे, यदि प्रकृति के ही वश में रहकर चलना किसी आर्टिस्ट का काम हो, तो उसके द्वारा सृष्टि ही नहीं होती। शरीर बाहर की चीजों को खाता है जरूर, किन्तु उसको ज्यों का त्यों अविकृत रूप में ही वमन कर देने के लिए वह नहीं खाता। वह खाता है अपने अन्दर उसको हजम करके उसे अपना बना लेने लिए। तब वह खाद्य एक तरफ रस-रक्त के रूप में बाह्य आकार, और दूसरी तरफ शक्ति स्वास्थ्य-सौन्दर्य रूप में आन्तरिक आकार धारण करता है। यही है शरीर का सृष्टिकार्य। मन का सृष्टिकार्य भी ऐसा ही है। वह बाहर के विश्व को

विकार के द्वारा जब अपना बना लेता है तब वह मानस पदार्थ एक तरफ वाक्य रेखा, सुर प्रभृति, वाह्य आकार, और दूसरी तरफ सौन्दर्य शक्ति, प्रभृति, आन्तरिक आकार धारण कर लेता है। यही है मन की सृष्टि–जो कुछ मैंने देख लिया। अविकल उसको ही दिखाना सृष्टि नहीं है।

उसके बाद, चित्र में जिस तरह 'वर्णिका भंग' है कविता में उसी तरह व्यञ्जना Suggostivness है। इस व्यञ्जना के द्वारा अपने अर्थ को पार कर जाती है। वह जो कुछ कहती है, उससे अधिक भाव व्यक्त करती है। यह व्यञ्जना, व्यक्त और अव्यक्त के बीच का भीड़ है। कवि के काव्य में यह व्यञ्जना वाणी के निर्दिष्ट अर्थ के द्वारा नहीं होती, वाणी की अनिर्दिष्ट भंगी के द्वारा अर्थात् वाणी की रेखा के द्वारा नहीं होती, उसके रंग के द्वारा वह उत्पन्न होती है।

असल बात यह है कि, सभी यथार्थ आर्टों में एक बाहर का उपकरण और एक चित्त का उपकरण रहना चाहिये—अर्थात् एक रहेगा रूप, और दूसरा रहेगा भाव। उस उपकरण को संयम के द्वारा बाँधकर गढ़ना पड़ता है, बाहर का बन्धन है प्रमाण, भीतर का बन्धन है लावण्य। उसके बाद उस भीतर बाहर के उपकरण को मिला देना होगा। किसलिये? सादृश्य के लिये। किसके साथ सादृश्य? ध्यान रूप के साथ कल्प रूप का सादृश्य। बाहर के रूप के साथ यदि सादृश्य ही मुख्य लक्ष्य रहे, तो भाव और लावण्य केवल आवश्यक हो हो जाते हैं ऐसी बात नही है, वे विरुद्ध भी हो जाते हैं। इस सादृश्य को व्यञ्जना के रंग से रंग सकने से सोने में सोहागा हो जाता है, क्योंकि तन सादृश्य की अपेक्षा बड़ा हो जाता है तब वह कितना बोझ रहा है, इसे रचयिता भी नहीं जानता, तब सृष्टिकर्ता की सृष्टि अपने संकल्प को भी अतिक्रम कर जाती है।

इस कारण, यह बात समझ में आ रही है कि चित्र के जो छः अङ्ग हैं, समस्त आर्ट का अर्थात् आनन्दरूप का भी वे ही हैं।

शरत्

अंग्रेजों के साहित्य में शरत् काल को प्रौढ़ माना गया है। उसकी युवावस्था पूर्णतः अतीत या शिथिल नहीं हुई है, किन्तु साथ ही मरण की तरफ वह खींचा जाने लगा है।

एक आधुनिक अंग्रेज कवि शरत् को सम्बोधित करके कह रहे हैं—"तुम्हारे वे सब शीत के आशंकाकुल वृक्ष आज मानो भूत की तरह दिखाई पड़ रहे हैं। हाय रे यह दशा! तुम्हारे कुञ्जवन का बाजार टूट गया है, तुम्हारी भींगी हुई पत्तियों का विरक्त होकर बाहर निकल पड़ना कैसा रूप दिखा रहा है! जो बीत चुका है, और जो आनेवाला है, उन दोनों की 'वासर-शय्या' की तुमने रचना की है। जो मुरझा रहे हैं—मरने की ओर चले जा रहे हैं, तुम उनकी वाणी हो, जो कुछ 'गतस्य शोचना' है, तुम उसके ही अधिदेवता हो।'

किन्तु यह शरत् हमलोगों का शरत् बिलकुल ही नहीं है। हमारा जो शरत् है, उसकी नीली आँखों के पलक, दीवालिया बने हुए यौवन के जल से भींग नहीं उठे हैं। हमारा शरत् मेरे पास शिशु की मूर्ति धारण करके आता है, वह बिलकुल ही नवीन है। अभी हाल ही में जन्म ग्रहण करके धरणी-धात्री की गोद में लेटा हुआ वह हँस रहा है।

उसका शरीर कच्चा है, प्रातःकाल हर सिंगार के फूल से जो गंध निकलती है वह उस नरम शरीर की ही गन्ध की तरह है। आकाश में, प्रकाश में, वृक्षों में, पौधों में और डाल-पत्तों में जो कुछ रंग हम देख रहे हैं, वे तो प्राण के ही रंग हैं, बिलकुल ही ताजे हैं।

प्राण का एक रंग है। वह इन्द्रधनुष की गाँठ से चुराये हुए लाल, नीले, हरे, पीले आदि कोई विशेष रंग के नहीं हैं। वे कोमलता के रंग

है। ऐसा रंग हम घास में देखते हैं, पत्तों में देखते हैं और मनष्यों के शरीर में देखते हैं। जन्तुओं के कठिन चमड़े के ऊपर प्राण का वह रंग भलीभाँति प्रस्फुटित नहीं हुआ है, इसी लज्जा से प्रकृति ने उसको रंग-विरंगे रोओं से ढक रक्खा है। मनुष्य के शरीर को प्रकृति ने अनावृत करके चूमा है।

जिसको बढ़ना है, वह यदि कड़ा रहेगा तो काम न चल सकेगा, प्राण इसीलिए कोमल है। प्राण नामक चीज अपूर्णता में पूर्णता की व्यञ्जना है। वह व्यञ्जना ज्योंही समाप्त हो जाती है, अर्थात्, जब जो कुछ है, केवल वही रह जाता है, उसकी अपेक्षा और किसी चीज का आभास नहीं मिलता, तब मृत्यु के द्वारा समस्त कड़ा हो उठता है, तब लाल नीला सब प्रकार के रंग ही रह सकते हैं, केवल प्राण का रंग नहीं रहता।

शरत् का जो रंग है वह प्राण का रंग है। अर्थात् वह कच्चा है, बहुत नरम है। धूप है कच्चा सोना, हरियाली है नरम, नील है ताजा। इसी कारण शरत् हमारे प्राण को उकसाता है, जैसे वर्षा हिला देती है हमारे भीतरी महल के हृदय को, जैसे वसन्त उकसा देता है हमारे बाहरी महल के यौवन को।

मैं कह रहा था कि, शरत् का भाव शिशु का भाव है। वह अभी हँसने लगता है, फिर तुरन्त ही रोने लगता है। इस हँसने रोने के भीतर कार्यकारण की गंभीरता नहीं, उसका आगमन ऐसे हलके रूप से होता है, कि कहीं भी उसके पैरों का दाग तक भी नहीं पड़ता, जल की तरंगों के ऊपर प्रकाश छाया दोनों भाई बहन की तरह जैसे केवल उद्दण्डता करते हैं, तथापि कोई चिह्न नहीं रखते।

बच्चों का हँसना रोना प्राण की चीज है, वह हृदय की वस्तु नहीं है। प्राण नामक चीज है पतली-हलकी नौका की तरह जो तेज गति से चलती है, उसपर माल नहीं लादा जाता। दौड़कर तेज गति से चलने वाले उस प्राण में हँसने-रोने का भार थोड़ा रहता है। हृदय नामक वस्तु

है लादी हुई नौका की तरह, वह पकड़ रखती है, भर रखती है, उसका हँसना-रोना चलते-चलते झरा देने योग्य नहीं है। जिस तरह झरना की गति है, वह दौड़ लगाकर तेज चलता है, इसीलिए झलमल कर उठता है। उसके भीतर छाया-प्रकाश का कोई डेरा नहीं है। किन्तु यही झरना ही प्रवाहित होकर उपत्यका की समतल भूमि के जिस सरोवर में जा पड़ा है, वहाँ प्रकाश मानो गहरे तल में डुबकी लगाना चाहता है, वहाँ छाया मानो जल के साथ गंभीर अन्तरङ्ग हो उठती है। वहाँ स्तब्धता के ध्यान का आसन जमा रहता है।

किन्तु प्राण का कहीं भी आसन नहीं है, उसको चलना ही पड़ेगा, इसीलिए शरत् का हँसना-रोना केवल हमारे प्राण-प्रवाह के ऊपर रह-रह कर चमक-दमक देता रहता है, जहाँ हमारे दीर्घ निःश्वास का निवासस्थान है, उस गम्भीर स्थान में जाकर वह अटक नहीं जाता। इसीलिए देखता हूँ, शरत् की धूप की तरफ देखने से मन केवल अब चलूँ यही करने लगता है, वर्षा की तरह वह चलना, अभिसार का चलना नहीं है, वह चलना अभिमान का चलना है।

वर्षा में जिस तरह दृष्टि आकाश की तरफ जाती है, शरत् में उसी तरह मिट्टी की तरफ जाती है। ऐसे समय में आकाश-प्रांगण से सभास्थल की बिछी हुई चादर समेटी जा रही है, अब सभा की जगह मिट्टी पर ठीक हुई है। एकदम मैदान के एक पार से दूसरे पारतक हरियाली छा गयी, उस तरफ से अब दृष्टि हटायी नहीं जा सकती।

बच्चा गोद में सारी जगह छेककर बैठा हुआ है, इसीलिये माता की गोद की तरफ इस तरह हमारी नजर पड़ती है। नवीन प्राणों की शोभा से पृथ्वी की गोद आज इसी तरह भर उठी है। यह शरत् बड़े-बड़े वृक्षों की ऋतु नहीं है, शरत् खेतों में फसल दिखानेवाली ऋतु है। फसलों का यह खेल बिल्कुल ही मिट्टी की गोद की चीज है। आज मिट्टी का जितना आदर हो सकता है, वह उसी पर हिल्लोलित हो रहा है, बड़े-बड़े वृक्ष-

भ्रातागण एक तरफ चुपचाप खड़े रहकर उसको ही देख रहे हैं। यह जो धान दिखाई पड़ रहा है, यह जो ईख दिखाई पड़ रही है, इनकी सारी शोभा, इनका सारा आनन्द अल्प ही समय में घनीभूत हो जाता है। सूर्य का उजाला इनके लिए मानो जल पिलाने का सत्र के समान है—ये भी झटपट अंजुरी भरकर सूर्यकिरणें पीकर ही चले जाते हैं, वनस्पतियों की तरह जल, हवा, मिट्टी में इनके लिए खाने-पीने का कोई निर्धारित भाग नहीं है। इनको इस पृथ्वी में केवल आतिथ्य ही मिला। शरत् पृथ्वी के इन सब छोटे जीवों के लिए, इन क्षणजीवियों के लिए क्षणिक उत्सव की ऋतु है। ये लोग जब आते हैं तब गोद को भरते हुए आते हैं, जब चले जाते हैं तब शून्य मैदान, शून्य आकाश के नीचे हा-हा करता रहता है। ये लोग इस पृथ्वी के हरे बादल तुल्य हैं, अकस्मात् देखते-देखते घने हो जाते हैं, उसके बाद प्रचुर धाराओं से अपना वर्षण कार्य समाप्त करके चले जाते हैं, कहीं भी अपने दावे का हिसाब-किताब नहीं छोड़ जाते।

इस कारण ही हम कह सकते हैं—'हे शरत्, तुमने शिशिराश्रु गिराते-गिराते विगत और आगत की क्षणिक मिलन-शय्या बिछा दी है। जिस वर्तमान के निमित्त अतीत की पालकी दरवाजे के पास प्रतीक्षा कर रही है, तुम उसका ही मुख चूम रहे हो। तुम्हारी हँसी से आँखों के आँसू लुढ़कते हुए गिर रहे हैं।'

मिट्टी की कन्या के आगमनोत्सव का गान अभी तो उसी दिन सुनाई पड़ा। बादलों के नन्दी-भृङ्गी सिंघा बजाते-बजाते अभी थोड़े ही दिन पहले पृथ्वीजननी की गोद में गौरी शारदा को रख गये हैं। किन्तु विजयादशमी का गान उठने में अब तो विलम्ब नहीं है। श्मशान निवासी पागल के आने में अब जरा भी देर नहीं है—उसके ललाट के

ऊपर हँसी की चन्द्रकला लगी हुई है, किन्तु उसकी जटा-जटा में रोदन की मन्दाकिनी है।

अन्त में देखता हूँ, वह पश्चिम के शरत् और यह पूर्व देश का शरत् दोनों एक ही स्थान में आकर अवसान प्राप्त करते हैं, उसी दशमी की रात्रि में होने वाले विजया के गानों से। पश्चिम देशीय कवि शरत् की तरफ नजर उठाकर गा रहे है—'वसन्त ने अपने उत्सव की सजावट निरर्थक ही की थी, तुम्हारे निःशब्द इङ्गितों से पत्तियों के बाद पत्तियों के खिसकते खिसकते यह स्वर्ण सरीखा वर्ष मिट्टी में मिलकर मिट्टी ही बन गया।' वे कह रहे हैं—'फागुन के महीने में मिलन-पियासिनी की जो रस व्याकुलता थी, वह अब शान्त हो गयी है, जेठ मास में उत्तप्त-निश्वास-विक्षुब्ध जो हृत्स्पन्दन था, वह अब स्तब्ध हो गया है। तूफान की उन्मत्तता के कारण नष्ट-भ्रष्ट होने वाले अरण्य की संगति-सभा में तुम्हारी तूफानी हवा दलबद्ध होकर पहुँच गयी है, और वहाँ वह अपने प्रेत-लोक की रुद्रवीणा पर तुम्हारे ही मृत्यु-शोक में विलय गान गाने के लिये तार चढ़ा रही है। तुम्हारे विनाश की श्री, तुम्हारे सौन्दर्य की वेदना क्रमशः सुतीव्र हो उठी है, हे विलीयमान महिमा की प्रतिमूर्ति।' किन्तु तो भी पश्चिम देशों में जो शरत् वाताय के घूँघट से मुख ढक कर आता है; और हमारे घरों में जो शरत् बादलों का घूँघट हटाकर, पृथ्वी की तरफ अपना हँसता हुआ मुख नीचे झुका देता है, उन दोनों के बीच रूप का और भाव का अन्तर है। हमारे शरत में उसका आगमनोत्सव ही गायन का टेक है। उसी टेक में विजया के गायन के बीच भी उत्सव का तान लग गया। हमारे शरत् में विच्छेद-वेदना के बीच भी यह एक बात लगी हुई है कि वह बारबार लौट आने के लिए ही चला जाता है, इसीलिए पृथ्वी के आँगन में आगमनोत्सव के गायन का अन्त कोई अन्त नहीं है, जो लेकर चला जाता है, वही फिर लौटा आता है। इसी कारण सभी उत्सवों में बड़ा उत्सव है। यही खोकर वापस पा जाने का उत्सव।

किन्तु पश्चिम देशों में शरत् के गान में प्राप्त करने खो देने की बात हमें मिलती है। इसी कारण कवि गा रहे हैं,—तुम्हारा आविर्भाव ही तुम्हारा तिरोभाव है। यात्रा और बिदाई, ये ही तुम्हारे टेक हैं, तुम्हारा जीवन ही मरण का आडम्बर है, और अपने समारोह की परम पूर्णता के भीतर ही तुम माया हो, तुम स्वप्न हो।'

—समाप्त—